प्रकाशक
प्रकाशवती पाल
विप्लव कार्यालय, लखनऊ

मुद्रक
बी० आर० भाटिया,
मैक्सवैल प्रेस, लखन

समर्पण—

यह उन्नीस लेख

हमारे उन सब साथियों के अर्पण हैं

जो

हमारी ही तरह न्याय के संघर्ष को

जीवन में अनुभव कर रहे हैं।

लखनऊ,
जुलाई, १६३६ ई०

यशपाल
प्रकाशवती पाल

भूमिका

मनुष्य-समाज की आयु बढ़ी और उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगीं। इन आवश्यकताओं के बढ़ने और बदलने के साथ उसके क्रम में परिवर्तन आता रहा। मनुष्य समाज के जीवन को किसी क्रम-विशेष या व्यवस्था के अनुसार संचालित करने के लिये जो परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार हैं उनमें समाज का अपना अनुभव विशेष महत्वपूर्ण है। समाज के संचित अनुभवों के आधार पर खड़ा किया गया तर्क और कल्पना ही हमारा समाजशास्त्र है। समाज-शास्त्र का उद्देश्य समाज की रक्षा और विकास है। जब समाज के विकास का मार्ग आगे बन्द होने लगता है तो समाज का शास्त्र गूढ़ चिन्तन और मनन द्वारा अपनी रक्षा के लिये नया कार्यक्रम बनाने के लिये बाधित होता है, यह बाधित होकर समाज द्वारा नये कार्यक्रम का तैयार किया जाना ही समाज में विचारों की क्रान्ति है।

समाज की जीर्ण व्यवस्था में परिवर्तन होने से पूर्व विचारों में क्रान्ति होना आवश्यक और प्राकृतिक क्रम है। सामाजिक क्रान्ति के मध्याह्न के लिये विचारों की क्रान्ति उषा के समान है। हमारा समाज अपनी पुरानी व्यवस्था के शिकंजे में छटपटा रहा है और नवीन व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव कर रहा है। यह विचारों की क्रान्ति का लक्षण है। दूसरे शब्दों में कहना होगा कि हम विचारों की क्रान्ति के युग से गुजर रहे हैं।

'न्याय की धारणा' मनुष्यसमाज को क्रम और नियंत्रण में रखने वाली आन्तरिक शृंखला है। समाज की प्रत्येक व्यवस्था और क्रम अपनी एक न्याय

की धारणा रखता है । यह धारणा उस सामाजिक व्यवस्था की पूर्णता क्रम और आदर्श की ओर संकेत करती रहती है । विचारों की क्रान्ति का काम हमारी न्याय की धारणा को नये मार्ग पर लाना है ।

इस पुस्तक में हमारी नवीन परिस्थितियों के लिये अनुपयुक्त और जर्जर न्याय की धारणा का विश्लेषण (Vivi Section) किया गया है । इस विश्लेषण में हमारी वर्तमान न्याय धारणा में मौजूद विरोधाभास क़दम क़दम पर प्रत्यक्ष हो जाते हैं । एक नवीन सामाजिक व्यवस्था और क्रम की ओर हमारा ध्यान जाता है ।

न्याय की धारणा और समाज की व्यवस्था के समान रूखे विषय की विवेचना को भी रोचक और मनोरंजक बना देना इन लेखों की सार्थकता है । भाषा प्रवाह के ऊपर तैरते हुए विद्रूप की तह में सिद्धान्तों की शिलायें मौजूद हैं । मनोरंजन और विद्रूप का अभिप्राय रूखे और गम्भीर विषय को रोचक बना देना ही है । इन लेखों को पढ़कर आपके होटों पर जो मुस्कराहट आयेगी वह आत्मविस्मृति और आनन्दोल्लास की न होकर क्षोभ परिताप और करुणा की होगी ।

इन लेखों में लेखक ने कलम की नोक से आत्मविस्मृति समाज को गुदगुदा कर जगाने की चेष्टा की है और समाज को करवट बदलते न देखकर कई जगह उसने कलम की नोक समाज के शरीर में गड़ा दी है ।

—नरेन्द्रदेव

पुस्तक को संशोधित रूप में छपवाया जा रहा है ।

विषय-सूची

न्याय का संघर्ष—

हम सभी लोग न्याय की दुहाई देते हैं। न्याय के लिये दूसरों का सिर फोड़ने के लिये तत्पर रहते हैं। हमारे अपने विचार में जो न्याय है, उसी के अनुसार हम दूसरों को चलते देखना चाहते हैं। यदि दूसरे लोग हमारे निर्णय की अवहेलना करें या हमारा विरोध करें तो उनका सिर फोड़ना ज़रूरी हो जाता है।

न्याय की धारणा जिस प्रकार हमारे दिमाग़ में होती है उसी प्रकार दूसरों के दिमाग़ में—हमारे विरोधियों के दिमाग़ में भी होती है। जैसे हम अपने दृष्टिकोण में जो न्याय है उसे लागू करना चाहते हैं, वैसे ही हमारे विरोधी भी अत्यन्त सद्भाव और सदाशय से अपनी समझ के अनुसार न्याय को लागू करना चाहते हैं। जिस समाज की दृष्टि में जो न्याय है, उस समाज को ईश्वर या उस समाज का ईश्वर वैसा ही शासन स्थापित करने की आज्ञा देता है।

शेरों और भेड़ियों के न्याय के अनुसार यह आवश्यक है कि हिरन और बकरियाँ सुबह-शाम स्वयं उनके समीप आ जांय और शेर या भेड़िये को देखकर भागें नहीं। हिरन और बकरियों के न्याय के अनुसार शेरों और भेड़ियों को घास के मैदान या पानी पीने की जगह पर नहीं आना चाहिए, बल्कि एक ऐसी बिजली गिरे कि शेरों और भेड़ियों का नामोनिशान मिट जाय।

※ ※ ※

ज़मींदारों की बात कितनी न्यायोचित है! जो लोग उनकी मिल्कियत की ज़मीन को जोतें बोयें, उनकी ज़मीन से अन्न-धन पैदा करें, उनको क्या अधिकार है कि सब कुछ ले जाँय! जिसकी ज़मीन है उसी का अधिकार पैदावार पर होना चाहिए। जिसके पेट से पैदा हुआ, उसी का बच्चा!

किसानों का न्याय कहता है, जिसके हाथ-गोड़ घिसने से ज़मीन से फल पैदा होता है, फल उसी का है। ज़मीन से स्वयं तो कुछ पैदा हो नहीं सकता। फल ज़मीन का नहीं, मेहनत का है।

ज़मीन जो किसी की नहीं। उसे किसने बनाया है? घेर कर अधिकार कर लेने से ही मिल्कियत अगर हो जाय, तो कोई भी दस आदमियों को मिला कर लाठी बाँधकर ज़मीन घेर सकता है। इसमें झूठ क्या है? पंजाब के शेर रणजीतसिंह ने क्या किया था? छत्रपति शिवाजी ने क्या किया था? हैदर-अली ने क्या किया था?

ज़माना बदल गया है, अब ऐसा नहीं हो सकता। हाँ, कोई चाहे तो बहुत सा रुपया लगा कर ज़मीन ख़रीद सकता है। रुपया भी एक साधन है। लाठी का ज़ोर भी एक साधन है। फ़र्ज़ कीजिए—सरकार का दिमाग़ फिर जाय, वह ज़मींदारों के हक़ को जैसे आज स्वीकार करती है, स्वीकार करना छोड़ दे। ऐसी अवस्था में न्याय बदल जायगा। किसानों की ही राय न्याय हो जायगी।

*   *   *

जिसकी सम्पत्ति हो, जिसकी मिल्कियत हो उससे किसी दूसरे को छीन लेने का क्या अधिकार? वह उसे चाहे जिस मोल बेच सकता है, यह बिलकुल न्याय-अनुमोदित है। इस तरह धनी बन जाने से न ईश्वर ही नाराज़ हो सकता है, न यह न्याय के विरुद्ध है, न कचहरी, अदालत को ही इसमें दख़ल है। कहते हैं—हमारे गाँव के ज़मींदार के दस गाँव थे। फ़सल में उन्होंने अनाज के कोठे भरे। आये साल फ़सलें ख़राब हो गयीं। ईश्वर की इच्छा हुई, अनाज महँगा बिका। मुनाफ़ा हुआ। सेठ जी ने दो गाँव और ख़रीद लिये।

*   *   *

ज़रा आँख खोल कर देखने से मालूम होता है कि मेरा जिस तरह से हित हो, मेरे लिये वही न्याय है। यदि मैं अपनी शक्ति से, चाहे वह शारीरिक हो या दिमाग़ी, अपने हित के लिये काम करने के लिये दूसरों को बाधित कर सकता हूँ, तो वही दूसरों के लिये भी न्याय है।

आजकल ज़माना अच्छा है। मनुष्य की शक्ति का अर्क जमा किया जा सकता है। आँख चाहिए देखने के लिये—सेठजी की तिजोरी की तरफ़ [illegible]। उसमें एक लाख रुपये के नोट नहीं। ज्ञानशलाका लगा कर देखिए—में चार लाख आदमी बंद हैं। उनकी पीठ पर बोझ ढोने की तैयारी

है, हाथों में कुल्हाड़ी, फावड़े और मेहनत के औज़ार हैं। यदि सेठ जी की इच्छा हो, तो अभी यह स्थूल प्रत्यक्ष रूप धारण कर काम करने लग सकते हैं। सेठजी जो चाहें कर डालें—पृथ्वी के एक भाग को पलट डालें।

* * *

गरमी की रात है, नींद नहीं आती। मेरी जेब में एक चवन्नी है। यदि मैं लोभ न करूँ, तो आराम से सो सकता हूँ। चवन्नी में एक आदमी छिपा है। उसके हाथ में एक पंखा है। वह रात भर मुझे पंखा कर सकता है।

मैं पूछता हूँ—'किसके मुँह में हाथ भर की ज़ुबान है जो कहे कि यह अन्याय है कि मैं सोऊँ और दूसरा मुझ सा ही आदमी रात भर खड़ा-खड़ा पंखा करे ! क्या उसके जान नहीं ?'

मैं पूछता हूँ—'क्या मेरे हाथ में चवन्नी नहीं, मैं चवन्नी की मेहनत नहीं लूँगा ?'

न्याय है शक्ति में। शक्ति के अनेक रूप हैं। सबसे अच्छा रूप शक्ति का है पैसा। यह सम्भाल कर वक्त के लिये रखा जा सकता है। ज़रूरत पड़ने पर खर्च किया जा सकता है। इस पैसे में से ज़मीन के जोतने-बोने वाले किसान, सुबह से शाम तक आँखें गड़ाकर दिमाग़ लड़ाने वाला मुंशी, वरदी पहन कर हुक्म मनवाने वाला सिपाही और तोप तलवार लेकर आतंक छा देने वाला सैनिक सब निकल सकते हैं। वह मनुष्य का उसकी श्रम शक्ति का संचित रूप है। यह है न्याय का हथियार !

जिसके पास यह शक्ति है उसी की इच्छा न्याय है। मनुष्य की शक्ति का यह सार कोई अपने ही शरीर से खींचना चाहे तो नहीं खींच सकता—मर जायगा कमबख्त। हाँ, दूसरों के शरीर से थोड़ा थोड़ा लेकर—उनके श्रम को पैसे के रूप में बदल यह एकत्र किया जा सकता है। जिस अनुपात में किसी व्यक्ति के पास मनुष्य के संचित श्रम का भण्डार है उसी अनुपात में वह शक्तिशाली है, न्याय का निर्णायक है।

* * *

एक ज़माना था जब एक मनुष्य की इच्छा ही न्याय थी। वह राजा

कहला कर जो हुक्म दे देता, वही न्याय था। वह चाहता तो मंत्री हाथी के पैर के नीचे कुचल दिया जाता, शहर ग्राम फूँक दिये जाते।

वक़्त आया, राजा की स्वेच्छाचारिता अन्याय समझी जाने लगी। सरदारों-सामन्तों के हाथ में भी शक्ति आ गयी। न्याय में उनकी इच्छा और राय को दख़ल हो गया। राजा उनकी सम्मिलित शक्ति के आगे दब गया। वे जो चाहते थे वही क़ानून था।

ज़माना पलटा, व्यापार ने ज़ोर पकड़ा। धन का ठेका एक मात्र सरदारों-सामन्तों के हाथ से निकल व्यापारियों, कल-कारख़ानों के मालिकों के हाथ में पहुँचा। शक्ति आने के साथ उन्हें ही लोग वोट देने लगे। अपने प्रतिनिधियों के ज़रिये न्याय में उनका भी कुछ कुछ दख़ल होने लगा।

ज्यों-ज्यों शासक समाज की शक्ति क्षीण होने लगती है या अपने हाथ से शक्ति निकल जाने का उन्हें भय होने लगता है, वे अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये प्रजा के कुछ अंश को अपना साझी बना उन्हें न्याय में दख़ल देने का अधिकार बाँटते जाते हैं या प्रजा के सामर्थ्यवान अंश के संतोष के लिये न्याय का रूप उन्हें बदलना पड़ता है।

आज भी हमारे देश में न्याय क्या है? इसमें अपने प्रतिनिधियों की मार्फ़त दख़ल देने का अधिकार एक हद तक उन्हीं को है जो लगान या टैक्स देते हैं, जिनके पास कुछ सम्पत्ति है। इन लोगों की राय में न्याय वही है, जिससे इनकी सम्पति की बढ़ती हो, वह अक्षुण्ण बनी रहे। सबसे बड़े पूँजीपति ब्रिटिश साम्राज्य ने अपनी शक्ति की रक्षा के लिये छोटे छोटे पूँजीपतियों को अपने चक्कर में सम्मिलित कर लिया है, परन्तु इन दस प्रतिशत* के अलावा जो नब्बे प्रतिशत है उनके हक़ में क्या न्याय है, इसकी चिंता किसे है?

* * *

स्वर्ग अपने ही मरने से मिलता है। नब्बे प्रतिशत के लिये यदि न्याय की चिन्ता किसी को हो सकती है, तो इन नब्बे प्रतिशत को ही होनी चाहिए।

---

* सन् १९३५ के शासन-सुधार के अनुसार वैधानिक सभा के चुनाव में वोट देने का अधिकार कुल १० प्रतिशत भारतवासियों को है।

जब तक न्याय का निर्णय दस प्रतिशत के हाथ में रहेगा तब तक न्याय की कसौटी यही रहेगी कि नब्बे प्रतिशत के श्रम से दस प्रतिशत का काम चलता रहे। दस प्रतिशत का कल्याण इसी में है कि नब्बे प्रतिशत उन्हें 'पिता' * के स्थान पर मानकर 'पुत्र' की तरह आज्ञापालन करते रहें। समाज के शरीर के हाथ-पाँव बन समाज के पेट—दस प्रतिशत—को भरते रहें। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वे न्याय और ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध जाते हैं : 'राम-राज्य' में विघ्न डालते हैं। मुश्किल है तो यह कि नब्बे प्रतिशत यह कैसे मान लें कि ईश्वर की आज्ञा नब्बे प्रतिशत को भूखा ही रखने की है।

* * *

मनुष्य की संचित शक्ति का एक रूप पूँजी है, तो दूसरा रूप 'संघशक्ति' है। नब्बे प्रतिशत के पास यह दूसरी शक्ति बहुत बड़ी मिक़दार में है। अभी तक उन्होंने इस शक्ति को नहीं पहचाना, क्योंकि अब तक ज्यों-त्यों प्राण बच रहे थे, परन्तु अब पूँजी की शक्ति का पंजा इतना कड़ा हो गया कि सांस लेना मुश्किल है। यदि नब्बे प्रतिशत अब अपनी इसी शक्ति के आधार पर न्याय न मांगें तभी ताज्जुब है।

समय समय पर न्याय में संघर्ष होता आया है और उसका रूप बदलता रहा है। यदि नब्बे प्रतिशत अपने भाग्य के निर्णय का बोझ स्वयं सँभाल कर न्याय के रूप में परिवर्तन करना चाहते हैं, तो इसे मानना ही पड़ेगा। यदि हम पूँजी और संघ की शक्ति की टक्कर न देखना चाहते तो नब्बे प्रतिशत की शक्ति स्वीकार कर लेने के सिवा और मार्ग नहीं।

* गांधी जी कहते हैं—'जमींदार और किसान का सम्बन्ध पिता-पुत्र का है।

नवयुग का प्रतीक, या युगान्त का ?

जीवन का उद्देश्य क्या है ? यह प्रश्न मनुष्य मनुष्यता के बाल्यकाल से ही परेशान किये है। मानवता के उषाकाल से मनुष्य ने समय के सागर के किनारे बैठ इस समस्या के समाधान में कितने ही घरौंदे बनाये और फिर सूझ बढ़ने के साथ इन समाधानों को विरूपता से विषण्ण हो उसने उन्हें मिटा भी दिया और सिदूर अज्ञेय अनन्त की ओर देख-देख वह चिन्ता में मग्न हो गया।

हमारे पूर्व-पुरुषों ने, जिनके अगाध ज्ञान को संसार में फैलाने के लिये हम व्याकुल हैं, अपनी सम्पूर्ण मानसिक-और शरीरिक शक्ति केवल मृत्यु की समस्या को सुलझाने में व्यय कर दी। मृत्यु की दृष्टि से ही उन्होंने जीवन के उद्देश्य को देखा। चिर-सत्य मृत्यु मनुष्य के उद्भव से पूर्व ही मुँह फैलाकर उसके मार्ग मे आ खड़ी हुई और मनुष्य अपनी असंख्य कल्पना-विकल्पना से भी उसे परास्त नहीं कर पाया।

एक तरह से कर भी पाया। मृत्यु के भय के कारण ही मृत्यु का सब महत्व मनुष्य की दृष्टि में है। हमारे ऋषियों ने कहा, मृत्यु कुछ नहीं, एक भ्रम है, आत्मा शाश्वत है। दूसरे आप्त पुरुषों ने निर्धारित किया, यह संसार ही भ्रम है, बन्धन है, इससे मुक्ति ही मृत्यु है। तब मृत्यु से डरना क्यों ?

जीवन—मनुष्य का जीवन, व्यक्तिगत रूप से ही पूर्ण है, या वह केवल समाज के बृहत् शरीर का अंग मात्र है ? यह दूसरा प्रश्न है, जिसे मनुष्य बोध और संस्कृति के विकास के साथ सोचने लगा। जैसे मनुष्य के शरीर में प्रति-क्षण सहस्रों जीवकोष्ट मरते रहते हैं और उनके स्थान में उनसे अधिक उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य-समाज के शरीर में व्यक्ति का मरना-जीना है। यदि इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज के जीवन की व्यवस्था करने की बात सोचें, तो शायद मृत्यु से परेशान होने की कोई ज़रूरत न मालूम होगी।

भारतीय दार्शनिक विचार-धारा का आधार सदा व्यक्ति रहा है। हमारी धार्मिकता जीवन को व्यक्तित्व की दृष्टि से देखकर ही सदा पनपी और

विकसित हुई। जीवन को जीतने का उपाय हमने समझा है जीवन से उपराम हो जाना। जीवन को पूर्ण करने का उपाय हमने समझा है जीवन को संक्षिप्त करते चले जाना और जीवन में सन्तोष और समृद्धि प्राप्त कराने का उपाय हमने निश्चित किया है इच्छा न करना, आवश्यकताओं को कम करते चले जाना। आवश्यकताओं को कम करते जाइए, ऊंची-ऊंची कल्पना कीजिए जीवन पूर्ण सन्तुष्ट और सुखमय हो जायगा।

हमारे देश की वर्त्तमान राजनैतिक और सामाजिक तनातनी की परिस्थिति में गांधीवाद उपर्युक्त वृत्ति को ही सब समस्याओं का हल बताता है। हमारे देश और समाज को सदा परलोकाभिमुख ऋषियों की नीति पर चलने का अभिमान रहा है। आज भी हमारा यह अभिमान अक्षुण्ण है। आज दिन भी हमारे राजनैतिक संग्राम के सेनानी हैं, हमारे राजनैतिक ऋषि महात्मा गांधी आज तक का इतिहास हमें बताता है कि धर्म और राजनीति मिलकर अपना-अपना आधिपत्य चलाते रहे हैं बल्कि धर्म को राजनीति के अधीन होना पड़ा। हमारे देश में, हमारे आज दिन के राजनैतिक संघर्ष में, महात्मा जी के नेतृत्व में राजनीति को धर्म की शरण लेना आवश्यक हो रहा है।

धर्म शब्द का व्यवहार हम साधारणतः बहुत व्यापक अर्थों में करते हैं। यहाँ हम 'मज़हब' या 'रेलिजन' के ही अर्थों में इस शब्द को ले रहे हैं। धर्म और राजनीति की तुलना करते समय हमें यह देखना पड़ेगा कि इन दोनों विचार-धाराओं का आधार क्या है ?

साम्प्रदायिक धर्म का आधार है पारलौकिक विश्वास और उसका दृष्टिकोण वैयक्तिक है। व्यक्ति वैराग्य की चरम सीमा पर पहुँचकर भी संसार में समाज की पूर्ण अवहेलना नहीं कर सकता। परन्तु मृत्यु के द्वार से हम जिस काल्पनिक लोक में पहुँचते हैं, वहाँ समाज का दखल नहीं। वहाँ व्यक्ति अकेला ही जाता है—'धर्मो को गच्छति केवलम्'। उस लोक की कामना और कल्पना से प्रेरित होकर मनुष्य जिस धर्म का संचय करता है, उसमें वह नितान्त रूप से आत्म-हित की ही बात सोचता है—उस आत्म-हित में उसमें किसी का भी साझा नहीं रहता। यदि वह 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' व्यवहार करने के लिये मजबूर होता है, तो वह समाज के कल्याण के प्रति व्याकुल हो

नहीं, अपितु अपने निस्सर्ग जीवन को समाज में पग-पग पर ठोकर खाने से बचाने के लिये ही ऐसा करता है।

इसके विपरीत राजनीति का उद्देश्य है, समाज की इहलौकिक सफलता और समृद्धि। राजनीति का आधार है सामाजिक संगठन और मानव-समूहों का परस्पर संघर्ष। उसका दृष्टिकोण सामाजिक है। धर्म का आधिपत्य राजनीति पर होने से एक विचित्र दोगली नीति का समुद्भव होना अनिवार्य है, जिसमें राजनीति अवश्यम्भावी रूप से पंगु और निःशक्त हो जायगी। क्योंकि पारलौकिक धर्म केवल विश्वास की वस्तु है और राजनीति यथार्थ जीवन का संघर्ष।

गांधीवाद मुख्यतः संकेत करता है अहिंसाव्रत की ओर। मनुष्य-समाज में शायद ही कोई ऐसा विचारक हुआ होगा, जिसने हिंसा का समर्थन उसके हेय अर्थों में किया हो। यदि हम भावुकता को किनारे रख यह देखने का यत्न करें कि हिंसा का अर्थ समाज में, राजनीति में या प्रकृति में क्या है, तो हम इसे पाप का समानार्थक नहीं पाते। हिंसा का अर्थ कोष में जो हो—व्यवहार में तटस्थ होकर देखने पर हम इसे 'अप्रिय' का ही द्योतक पायेंगे। किसी भी वस्तु की स्थिरता और स्थापना के लिये अपनी परिस्थिति से सम्बद्ध होना ज़रूरी है। परिवर्तन के समय इन सम्बन्ध-स्थापक तन्तुओं का टूटना आवश्यक है। यदि यह तन्तु न होते, तो स्थिरता नहीं हो सकती थी, और यदि तन्तु न टूटे तो परिवर्तन असम्भव हो जायगा। परिवर्तन के अभाव में, प्रगति रुक जाने पर समाज का जीवन क्योंकर सम्भव हो सकता है? हम अपने रोज़मर्रा के जीवन में देखते हैं कि गति और शक्ति समानार्थक हैं। जब इस गति और शक्ति का प्रयोग हमारे हितों और रुचि के विरुद्ध होता है, अप्रिय होता है तभी हम हिंसा अनुभव करते हैं। वैयक्तिक दृष्टिकोण से हिंसा की यही कसौटी हमें दिखाई देती है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी इसमें अपवाद की गुंजाइश हमें दिखाई नहीं देती। हम यह भी कह सकते हैं कि हिंसा और अहिंसा के भेद की नींव हमारी न्याय और अन्याय की धारणा पर है। जो प्रयत्न—या शक्ति का प्रयोग, हमारी समझ के अनुसार न्याय के समर्थन के लिए किया जाता है, वह अहिंसा है और इसके विपरीत हिंसा। गांधीवाद की दृष्टि में हिंसा या अहिंसा की उपर्युक्त व्याख्या ठीक नहीं। बल्कि यही

कहना होगा कि गांधीवाद में हिंसा और अहिंसा की निर्णायक कसौटी समाज हित नहीं, व्यक्ति की धर्म की अनुभूति या धर्म-बुद्धि है। धर्म-बुद्धि से अभिप्राय कर्त्तव्य का विवेक नहीं, अपितु परलोकाभिमुख वैराग्य बुद्धि है।

(२)

हम यह नहीं कहते कि विशुद्ध राजनीति में केवल मारकाट और रक्तपात के अतिरिक्त कुछ नहीं। हम यह नहीं कहते कि संसार के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ नादिरशाह थे। मारकाट की पाशविक हिंसा प्रवृत्ति बर्बरता का अवचिह्न है। मनुष्य न पशु है और न मशीन, जो केवल 'हार्स-पावर' से काम लेगा। उसमें जो मनुष्य नाम का पदार्थ है, वहीं उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। युक्ति और प्रेरणा हमारी मौजूदा संस्कृति के सबसे अनुरूप साधन हैं। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था का आदर्श, प्रजातंत्र शासन-प्रणाली और प्राचीन नीति के आदर्श शक्ति प्रयोग में आधारभूत भेद है। संस्कृति के विकास के साथ-साथ हम शस्त्र-शक्ति के प्रयोग से दूर हटते जाते हैं। उसे हम बर्बरता या समाज की मूढ़ता का चिह्न समझते हैं। युक्ति और प्रेरणा की ओर मनुष्य-समाज की उत्तरोत्तर प्रवृत्ति उसके इसी आदर्श की ओर संकेत करती है और उसके विकास का प्रमाण है।

शस्त्र-शक्ति की जो हम बिल्कुल उपेक्षा नहीं कर पाते, वह कुछ अभ्यास दोष से और कुछ आशंका और अविश्वास के कारण। हम यह दावा नहीं कर सकते कि आज दिन हम संस्कृति की चरम सीमा पर पहुँच गये हैं। हम विकास की एक मंज़िल तक पहुँचे हैं, जिसमें हमारा साधन और नीति पूँजीवादी की प्रणाली रही है। पूँजीवाद की प्रणाली पर चलकर इस मंज़िल तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक था कि समाज भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त रहे। पूँजीवादी की उपयोगिता समाप्त हो जाने पर भी समाज उसे एक तरफ़ नहीं फेंक दे सका। श्रेणियों का वह भेद जो एक दिन उसके विकास के लिये ज़रूरी था, जो उसकी आन्तरिक प्रेरक शक्ति था, वही उसके मार्ग का अवरोधक हो रहा है। इस भेद के परिणाम स्वरूप समाज में एक तनातनी और संघर्ष की जलन फैल रही है, इसलिये हिंसा और बल-प्रयोग भी दिखायी पड़ रहा है। आज जो हम फ़ासिज़्म और नाज़िज़्म का रूप देख रहे हैं, वह समाज में आ रहे परिवर्तन की भयंकर तड़प है।

आचार्य कृपलानी ने अपनी पुस्तक 'हिंसा का पराजय' (The Conquest of Violence) में इस बात पर ज़ोर दिया है कि समाज में वैयक्तिक आचार का दर्जा बहुत ऊँचा उठ गया है, अब उसे हिंसा के दोष से मुक्त हो जाना चाहिए। परन्तु हिंसा का अभाव कहीं दोख नहीं पड़ता। ध्यान में रखना चाहिए कि संसार को व्यस्त कर देनेवाली हिंसा और तनातनी व्यक्तिगत न होकर श्रेणीगत भी हो सकती है। यदि उसके मूल में व्यक्ति की स्वार्थ-बुद्धि नहीं, श्रेणियों का वैमनस्य मिट जाने पर स्वयं दूर हो जायगी।

श्रेणी-भेद या स्वार्थों का संघर्ष क़ायम रहते वह मिट नहीं सकती। एक सर्व-शक्तिमान अमर शक्ति की इच्छा पर संसार का संचालन निर्भर मान लेने पर और श्रेणियों का सृजन भी उसी शक्ति का वरदान समझ लेने पर हम समाज में चिर शान्ति और चिर अहिंसा के लिए सिवाय प्रार्थना करने के और कोई उपाय नहीं कर सकते। महात्माजी का विश्वास है कि उस दैवी परोक्ष शक्ति ने उन्हें एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये संसार में भेजा है। भगवान के प्रतिनिधि की हैसियत से भगवान की व्यवस्था में परिवर्तन उन्हें कैसे स्वीकार हो सकता है ? परन्तु समाज भगवान को पूछे बिना ही वैमनस्य और तनातनी के कारण श्रेणी-भेद को मिटाने की ओर अग्रसर हो रहा है। इस प्रकृति का आधार और दृष्टिकोण है सामाजिक और उद्देश्य है समृद्धि। इसके विपरीत गांधीवाद की अहिंसा का आधार और दृष्टिकोण है वैयक्तिक और उद्देश्य, चरम शान्ति और निर्वाण।

गांधीवाद परिस्थिति को देखकर या इहलौकिक लक्ष्य को लेकर नहीं चलता। गांधीवाद अपने लक्षणों से वह नीति (Policy) नहीं। इसे नीति या पालिसी कहना गाली देने के बराबर है। वह एक आदर्श है, जो सांसारिकता से परे, पारलौकिक ध्येय को लक्ष्य कर चलता है। अभी मई १९३८ में साम्प्रदायिक दंगों के अवसर पर कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों द्वारा राजशक्ति के प्रयोग से आततायियों के दबाये जाने पर महात्मा जी को अनुभव हुआ कि कांग्रेस पथ से च्युत होती चली जा रही है। गांधी जी की दृष्टि में देश में शासन का प्रयोजन सुव्यवस्था और समृद्धि की अपेक्षा अहिंसाव्रत को ही [illegible] करना है।

(३)

इतिहास में ऐसा पहले कभी न हुआ हो, सो बात नहीं। महात्मा बुद्ध ने भी इस अहिंसा का प्रचार किया था। निर्वाण को ही लक्ष्य कर वह अहिंसावाद उस समय खूब फैला। परन्तु समाज की आवश्यकताओं के साथ मेल न खाने के कारण वह समाज की नीति न बन सका। केवल व्यक्ति को आध्यात्मिक और चरम शांति का आश्वासन देकर रह गया। गांधीवाद भी बुनियादी तौर पर वैयक्तिक साधना की चीज़ है। इस विज्ञान के युग में, भौतिकवाद के युग में अपार्थिव, परोक्ष, दैवी शक्ति से प्रेरणा ग्रहण कर राजनीति कहाँ तक चलेगी? गांधीवाद का भविष्य क्या होगा? यदि यह प्रश्न हम इतिहास से पूछें, तो हमारे सामने बौद्ध-धर्म का उदाहरण आ उपस्थित होगा।

आज जो गांधीवाद का बोलबाला है, वह इसके सिद्धान्तों की तर्कसंगति के बल पर नहीं। वह है महात्माजी के आकर्षक और मोहक व्यक्तित्व के कारण। ईसाई देशों में हम ईसाई धर्म के प्रभाव को और ईसा के व्यक्तित्व को पृथक्-पृथक् देख सकते हैं। इसी प्रकार गांधीवाद यदि किसी दिन सार्वजनिक विश्वास और व्यवहार की चीज़ हो जायगा, तो उस दिन हम गांधीवाद के व्यक्तित्व को भी पृथक्-पृथक् देखने लगेंगे।

परिस्थितियों ने बुद्ध, ईसा और मुहम्मद को गढ़कर तैयार किया। मानव समाज का मस्तिष्क अपनी अविकसित अवस्था में छटपटाकर, अज्ञेय क्षेत्र में हाथ फैलाकर, सहारा ढूंढने का प्रयत्न करता रहा है। उसने विश्वास से सहारा पाया; परन्तु ज्यों-ज्यों ज्ञान का प्रकाश अज्ञेय के लोक में घुसा, अज्ञेय की सीमा को संकुचित करने लगा, त्यों-त्यों उसके यह सहारे छाया की तरह विलीन होने लगे। गांधीवाद भी अपेक्षाकृत विकसित, आधुनिक संस्कार की कल्पना है—एक आश्रय ढूँढने की छटपटाहट है। अपार्थिव लोक में टेक पाने की साध इस प्रगतिगामी युग में कितने दिन फलवती हो पायेगी? आध्यात्मवाद और पूँजीवाद की पुरानी रूढ़ियों और संस्थाओं को जो सहारा गांधीवाद आधुनिक अध्यात्मवाद का रोगन पोतकर दे रहा है, वह कितने दिन टिक सकेगा? गांधीवाद नवयुग का प्रतीक है, या युगान्त का? समय इस प्रश्न का उत्तर शीघ्र ही देगा।

जीवन का आधार—

—"Man does not live by bread alone"

बाइबिल में कहा है, मनुष्य केवल भोजन से ही जीवित नहीं रह सकता। इ वाक्य आध्यात्मिक उद्देश्य से कहा गया है, परन्तु मनुष्य के साधारण ीवन-क्रम में भी यह उतना ही सत्य है जितना कि मसीह की दृष्टि में ाध्यात्मिक दृष्टि से था।

आत्मा परमात्मा की चर्चा मनुष्य अपने आत्मिक या मानसिक विकास अनुपात से सदा ही करता रहा है और न जाने कब तक करता रहेगा? ो लोग प्राचीन अन्ध-विश्वास से खीझ कर आत्मा परमात्मा की धारणा के रुद्ध जिहाद करते हैं, वे भी केवल खा-पीकर जीवन को परिपूर्ण समझने ा दावा नहीं कर सकते। भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के तिरिक्त उन्हें भी कुछ और चाहिए। आत्मा-परमात्मा में अन्ध-विश्वास या ानसिक दासता के विरुद्ध जिहाद करने के लिये वे आतुर क्यों हो उठते हैं? सा न करने से सर में दर्द या पेट में मरोड़ तो उठता नहीं, जोड़ों के दर्द ी भी यह दवा नहीं। फिर भी पेट भर खा-पीकर नरम बिस्तर पर उन्हें चैन नींद क्यों नहीं आती?

शारीरिक आवश्यकताओं से परे, इस स्थूल जगत् से परे, कुछ ऐसा है वश्य जो मोटी नज़र से प्राण-रक्षा के लिये अनिवार्य न जान पड़ने पर भी निवार्य ही है। जीवन के लिये कुछ परमावश्यक भावना है ज़रूर! और इ जो स्थूल जीवन के परे सूक्ष्म परमावश्यक भावना है, सम्भवतः इसे हम ानुष्यता' की एक परिभाषा कह सकते हैं।

मनुष्य में हँसने की, अपने आपको भूल जाने की इच्छा उसकी मनुष्यता ा अंग है। मनुष्येतर प्राणियों में भी ऐसी भावना है ज़रूर पर,

वह इतनी कम विकसित है कि हम लोगों को उसका स्पष्ट अनुभव नहीं ह
पाता। वह उनके जीवन में अत्यन्त गौण है। उनके जीवन-रक्षा के साध
इतने अविकसित हैं कि जीवन-रक्षा में ही उनकी सम्पूर्ण शक्ति व्यय ह
जाती है। उनमें जीवन की विपुल शक्ति का उच्छ्वास (Exuberance o
superfluous energy) उतना प्रत्यक्ष और प्रकट नहीं होता जितन
कि मनुष्य में।

जीवन की शक्ति का उच्छ्वास मनुष्य की आदिम अवस्था में भी उतन
ही स्पष्ट था जितना की बीसवीं सदी की अत्यन्त सभ्य अवस्था में है। हमा
जहाँगीर और वाजिदअलीशाह की रंग-सभाएँ, ओपेरा, नाशियोनाल पार
के तमाशे, अमेरिकन जैज़ और ज़ुलू तथा सुहाली लोगों का सुरा-पान क
अग्नि-स्तूप के चारों ओर नृत्य करना भिन्न-भिन्न चीज़ें नहीं। जीवन-रक्षा क
आवश्यकताएँ हमें जितना व्यस्त करती हैं, जीवन-शक्ति के उच्छ्वास को तृ
या प्रकट करने की आवश्यकताएँ हमें उससे कम व्यस्त नहीं करतीं।

'मद' को सभी धर्म-गुरुओं ने 'धर्म-ज्ञान' का घातक कहा है, परन्तु 'मद
मनुष्य के विकास का उतना ही आदिम अंग है जितना कि 'धर्म-विश्वास'
जब मनुष्य ऊषा के बालसूर्य, सुनील आकाश और भयंकर आँधी के सम्मुख
दण्डवत कर अपने कल्याण का बीमा कर लेने का विश्वास कर लेता था, त
भी 'मद' उसके साथ था। मालूम होता है 'मद' और धर्म-विश्वास, मनुष्य-
जीवन के एक समान आवश्यक अंग हैं।

धर्म-ज्ञान' और 'धर्मभाव' का आविष्कार मनुष्य ने शोक, संताप औ
भय से बचने के लिये किया है। 'मद' का आविष्कार उसने किया है भय
को भूलकर सुख और आह्लाद की अनुभूति के लिये। फ़र्क़ कुछ नहीं। अभि-
प्राय और लक्ष्य है—दुःख की अनुभूति से बचना, सुख की अनुभूति की
चाह। धर्म निवारक (Negative) और मद-पोषक (Positive)
साधन हैं। जिन दो व्यक्तियों ने पहले पहल 'धर्म' और 'मद' का आविष्कार
किया था, वे मनुष्य-समाज की परम कृतज्ञता के पात्र हैं।

ईस्टर भी धार्मिक त्योहार है, परन्तु उसमें भी 'धर्म' तो रह जाता है
ओट में और मुख्य रूप से आगे आता है, आनन्दोल्लास! यही हाल क्रिस-

जीवन का आधार—

—"*Man does not live by bread alone*"

बाइबिल में कहा है, मनुष्य केवल भोजन से ही जीवित नहीं रह सकता। इ वाक्य आध्यात्मिक उद्देश्य से कहा गया है, परन्तु मनुष्य के साधारण ीवन-क्रम में भी यह उतना ही सत्य है जितना कि मसीह की दृष्टि में ाध्यात्मिक दृष्टि से था।

आत्मा परमात्मा की चर्चा मनुष्य अपने आत्मिक या मानसिक विकास अनुपात से सदा ही करता रहा है और न जाने कब तक करता रहेगा? ो लोग प्राचीन अन्ध-विश्वास से खीझ कर आत्मा परमात्मा की धारणा के रुद्ध जिहाद करते हैं, वे भी केवल खा-पीकर जीवन को परिपूर्ण समझने ा दावा नहीं कर सकते। भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के तिरिक्त उन्हें भी कुछ और चाहिए। आत्मा-परमात्मा में अन्ध-विश्वास या नसिक दासता के विरुद्ध जिहाद करने के लिये वे आतुर क्यों हो उठते हैं? सा न करने से सर में दर्द या पेट में मरोड़ तो उठता नहीं, जोड़ों के दर्द ी भी यह दवा नहीं। फिर भी पेट भर खा-पीकर नरम बिस्तर पर उन्हें चैन ी नींद क्यों नहीं आती!

शारीरिक आवश्यकताओं से परे, इस स्थूल जगत् से परे, कुछ ऐसा है वश्य जो मोटी नज़र से प्राण-रक्षा के लिये अनिवार्य न जान पड़ने पर भी निवार्य ही है। जीवन के लिये कुछ परमावश्यक भावना है ज़रूर! और ... स्थूल जीवन के परे सूक्ष्म परमावश्यक भावना है, सम्भवतः इसे हम ...की एक परिभाषा कह सकते हैं।

... में हँसने की, अपने आपको भूल जाने की इच्छा उसकी मनुष्यता ...ा अंग है। मनुष्येतर प्राणियों में भी ऐसी भावना है ज़रूर पर,

वह इतनी कम विकसित है कि हम लोगों को उसका स्पष्ट अनुभव नहीं हो पाता। वह उनके जीवन में अत्यन्त गौण है। उनके जीवन-रक्षा के साधन इतने अविकसित हैं कि जीवन-रक्षा में ही उनकी सम्पूर्ण शक्ति व्यय हो जाती है। उनमें जीवन की विपुल शक्ति का उच्छ्वास (Exuberance of superfluous energy) उतना प्रत्यक्ष और प्रकट नहीं होता जितना कि मनुष्य में।

जीवन की शक्ति का उच्छ्वास मनुष्य की आदिम अवस्था में भी उतना ही स्पष्ट था जितना की बीसवीं सदी की अत्यन्त सभ्य अवस्था में है। हमारे जहाँगीर और वाजिदअलीशाह की रंग-सभाएँ, ओपेरा, नाशियोनाल पार्क के तमाशे, अमेरिकन जेज़ और ज़ुलू तथा सुहाली लोगों का सुरा-पान कर अग्नि-स्तूप के चारों ओर नृत्य करना भिन्न-भिन्न चीज़ें नहीं। जीवन-रक्षा की आवश्यकताएँ हमें जितना व्यस्त करती हैं, जीवन-शक्ति के उच्छ्वास को तृप्त या प्रकट करने की आवश्यकताएँ हमें उससे कम व्यस्त नहीं करतीं।

'मद' को सभी धर्म-गुरुओं ने 'धर्म-ज्ञान' का घातक कहा है, परन्तु 'मद' मनुष्य के विकास का उतना ही आदिम अंग है जितना कि 'धर्म-विश्वास'। जब मनुष्य ऊषा के बालसूर्य, सुनील आकाश और भयंकर आँधी के सम्मुख दण्डवत कर अपने कल्याण का बीमा कर लेने का विश्वास कर लेता था, तब भी 'मद' उसके साथ था। मालूम होता है 'मद' और धर्म-विश्वास, मनुष्य-जीवन के एक समान आवश्यक अंग हैं।

धर्म-ज्ञान' और 'धर्मभाव' का आविष्कार मनुष्य ने शोक, संताप और भय से बचने के लिये किया है। 'मद' का आविष्कार उसने किया है भय को भूलकर सुख और आह्लाद की अनुभूति के लिये। फ़र्क़ कुछ नहीं। अभिप्राय और लक्ष्य है—दुःख की अनुभूति से बचना, सुख की अनुभूति की चाह। धर्म निवारक (Negative) और मद-पोषक (Positive) साधन हैं। जिन दो व्यक्तियों ने पहले पहल 'धर्म' और 'मद' का आविष्कार किया था, वे मनुष्य-समाज की परम कृतज्ञता के पात्र हैं।

ईस्टर भी धार्मिक त्योहार है, परन्तु उसमें भी 'धर्म' तो रह जाता है ओट में और मुख्य रूप से आगे आता है, आनन्दोल्लास! यही हाल क्रिस-

नस का है। ईसाई देशों में क्रिसमस के समय 'मद' के झाग का जो प्रवाह बहता है और 'बाल' नाच का जो बवंडर उठता है उसमें बेचारे मसीह का जन्म बिलकुल डूब जाता है।

मुसलमानों का मुहर्रम सरासर ग़म और आहोज़ारी का दिन है, लेकिन उस दिन भी जीवन-शक्ति का उच्छ्वास कितना विकट और प्रत्यक्ष होता है? उस दिन ग़म इतना प्रबल नहीं होता जितना जोश! किसी के धर्मभाव' और 'धर्म-अभिमान' को चोट न पहुँचाने के लिये, डरते-डरते कहूँगा कि इस 'हाय हुसैन' कहकर पीटने में छाती से लहू बहाने में भी एक संतोष का उन्माद है।

हिन्दुओं के त्योहारों का कहना ही क्या। मानों हमेशा आनन्द में पागल हो जाने का बहाना ढूँढ़ते फिरते हैं। होली को ही लीजिए। होली के दिन तो जो कुछ न हो जाय वही ग़नीमत। भारत में होली के अवसर पर जीवन-शक्ति का जितना उत्कट उच्छ्वास होता है, मेरे विचार में उसे यदि नियमित रूप से संचित कर संसार के बड़े से बड़े साम्राज्य की जड़ में लगा दिया जाय, तो वह साम्राज्य की अडिग चट्टान को डाइनामाइट की तरह उड़ा देगा।

मनुष्य आनन्द में पागल होकर अपनी शक्ति का व्यय क्यों करता है? शरीर को पुष्ट करने के लिये व्यायाम करके भी मनुष्य अपनी शक्ति को व्यय करता है। शारीरिक शक्ति के व्यय से शरीर सशक्त होता है, उसी प्रकार आनन्द में उच्छ्वासित होकर जीवन-शक्ति बहाने से जीवन-शक्ति और जीवन के उच्छ्वास बढ़ते हैं। इसीलिये राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिये नाच, गान, मेले, तमाशे, नाटक, दंगल आदि बहुत ज़रूरी हैं। वे समाज में जीवन-शक्ति उत्पादन करने वाली ग्रन्थियाँ हैं। हमारे मन्दिर, मस्जिद और धर्म-स्थान राष्ट्र के शरीर में नासूर हैं, जो उसकी स्वाभाविक उन्नति को रोककर उसे सुस्त और निष्प्रय बनाने की चेष्टा करते हैं। 'गाब्रील-द-अनजियो' ने एक जगह लिखा है—'एक विशाल गिर्जाघर की अपेक्षा एक कूड़े गोबर का ढेर अधिक मूल्यवान है। उससे खेत की शक्ति तो बढ़ेगी।'

मतलब यह है कि हमारा आनन्दोच्छ्वास हमारी जीवन शक्ति का एक स्रोत है। वह हमारे जीवन-प्रवाह में शक्ति को बढ़ाने का एक उप- परन्तु हमारे धर्मशास्त्र आनन्दोच्छ्वास को नरक का द्वार बताते हैं।

नाच, गान, थियेटर, सिनेमा, दंगल, मेले आदि इनकी दृष्टि में पाप हैं परन्तु मैं समझता हूँ और हर एक निष्पक्ष आदमी मानेगा कि यह सब जीवन-शक्ति के छोटे-छोटे स्रोत हैं। यह समाज के शरीर में जीवन-शक्ति उत्पादन करने वाली ग्रन्थियाँ हैं।

......आज होली है! जेल की होली! आज मेरी जेल की छठी होली है। मैं त्योहारों के दिन प्रायः निष्प्रभ हो जाता हूँ और होली के दिन तो ख़ास तौर पर! वजह क्या है? ऐसी वजहों को खोल कर जाँच लेना, उनके तरस्तर की पड़ताल कर लेना बहुत कठिन समस्या है—

आज होली के दिन जेल ख़ास देखने की चीज़ है। क़ैदियों को आज उत्सव मनाने की और आनन्द मनाने की मनाही है। इससे उनके शोक की सीमा नहीं। मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार भी उनसे छीन लिया गया है। आज जेल पर कैसी विरूपता छा रही है।

लेकिन इतने पर भी गमक-गमक की आवाज़ आ रही है। कहीं तसला बज रहा है, कहीं मटका खटक रहा है। हँसने-गाने से, आनन्द मनाने से सज़ा मिलेगी, लेकिन इस वृत्ति को रोकना कितना कठिन है? आनन्द का आकर्षण कितना विकट है!

आनन्द और जीवन में फ़रक़ ही कितना है! आज के दिन यदि क़ैदियों को खाना रोक कर उन्हें गाने, बजाने और हँसने की इजाज़त दे दी जाय तो वे बहुत ख़ुश होंगे।

इसीलिये तो कहता हूँ—मनुष्य के जीवन का आधार केवल भोजन ही नहीं।

—होली, १९३६

समाज का चौखटा चर्रा रहा है !

एक सर्वशक्तिमान भगवान हैं, जिनकी एक चुटकी बजाने से इस सृष्टि की रचना हो जाती है, दूसरी चुटकी बजाने से विनाश। उन्हीं लीलामय ने एक दिन अँगड़ाई लेकर विनोद की इच्छा से इस जगत् की देखभाल करने के लिये, इसका स्वामित्व करने के लिये अपने ही रूप में मनुष्य की रचना कर दी और कहा—बेटा, यह संसार तेरे लिये है !

भगवान् ने मनुष्य के लिये एक प्रोग्राम और सिलसिला भी गढ़ कर रख दिया, जिसमें भूल-चूक और परिवर्तन की गुञ्जाइश नहीं। इस सृष्टि के विधान में भूल निकाल कर परिवर्तन की तजवीज़ पेश करे, ऐसी हिम्मत किस मनुष्य में है ?

और भगवान् द्वारा अपनी लीला को पूर्ण करने के लिये बनाये हुए इस मनुष्य का समाज ! यह समाज की माला भी उसी बिसाती ने पिरोयी है, जिसने कि इस माला के मनकों को गढ़ा है। इस माला के मनकों में जो क्रम हैं, वह उसी बिसाती की इच्छानुसार है। कोई बड़ा है तो कोई छोटा; कोई बीच में फबता है, तो कोई अगल-बगल ! इस व्यवस्था से परिवर्तन करना भगवान की बुद्धि और न्याय की तौहीन करना है।

—यह हैं उपदेश, जो मनुष्य के धर्म-ग्रन्थ और धर्म-गुरु देते आये हैं। धर्म-गुरु आरम्भ से ही समाज को चौखटों में जड़ता आया है। जब समाज ने एक चौखटे में करवट बदली, चौखटा चर्राया कि समाज के रक्षकों ने, धर्म-गुरुओं ने दूसरा चौखटा कील-काँटे लगाकर उस पर बैठा दिया।

इन चौखटों को बदलते देख एक दफ़े मनुष्य सोचने लगता है—वह चौखटा कैसा होगा, जो भगवान् ने पहले-पहल मनुष्य के इस समाज पर जड़ा होगा !

. . विक कौतूहल—

सर्वज्ञ और शक्तिमान की अद्भुत लीला से इस संसार के अगाध्यत-

घर में हम आज भी मनुष्य के समाज को तरह-तरह के चौखटों में जकड़ा पाते हैं। एक समाज है इँगलैण्ड के टापू में रहने वाला, दूसरा है रूस के देश में, तीसरा हमारा अपना ही और फिर देखिए अफ्रीका के जंगलों में पत्तों से तन ढाँपकर, मनुष्य के शव को भूनकर खाने वाला समाज, कुल-पति की आज्ञा से बर्छी ले नाचनेवाला समाज और फिर देखिए जंगली आस्ट्रेलिया का पुरुष के पौरुष की उपेक्षा कर 'माँ' को ही चारो ओर से घेर कर चलने वाला स्त्री-शासित समाज !

और फिर यह रोज़-रोज़ आँखों के सामने आने वाले परिवर्तन ! एक रोज़ हम क्या थे ?—कौतूहल बुरी चीज़ है ! इसी कमज़ोरी से 'आदम' ने अदन के बाग़ में फ़रिश्तों के हज़ार समझाने पर भी गेहूँ को चख ही तो लिया। फिर जो मुसीबत उसकी औलाद पर पड़ी, वह वही जानती है।

इन्सान का कौतूहल न माना। उसने इतिहास की धुंधली दूरबीन उठाकर भूत की क्षीण पगडण्डी की ओर देखना शुरू किया और क्या देखा ?

आदिम समाज—

देखा—एक दिन स्वर्ण-युग था ! मनुष्य का समाज सुख और शान्ति से दिन बसर करता था। न कोई बंधन था, न क़ैद। मनुष्य का समाज हिरनों या हाथियों के गोल की तरह घूमता-फिरता था। जहाँ पके फल देखे, तोड़ खाये ; घना वृक्ष देखा, छाया में रात और बर्सात गुज़ार दी, पर मौसम ख़तम होने पर अड़चन आती थी। उसने फल तोड़कर दूसरे दिन के लिये रखने शुरू किये, पहिले लट्ठ या पत्थर मार जानवर का शिकार कर गुज़ारा हो जाता था। शिकार को शिकारी से मुहब्बत नहीं, किसी दिन मिला, किसी दिन न मिला। आदमी को भी अक़्ल आयी। उसने जानवर को पालना शुरू किया और उसके बच्चों को खाना। बच्चे के साथ दूध के प्याले भी मिलने लगे।

वृक्ष से झड़कर गिरे फल के बीज को उगते देख आदमी ने सोचा, क्यों न बहुत से पेड़ बो दिये जाँय, फलों की कमी न रहे। इससे आरम्भ हुआ खेती का। खेती हुई, तो ख़ास आबादी भी हुई और ख़ानाबदोशी ख़तम हुई।

अब समाज या क़बीले खेती के लायक़ ज़मीन को लेकर बसने लगे उनके

पहिले ही समाज या क़बीले में, जिसके हाथ ताक़त होती थी, उसका लोहा थोड़ा-बहुत दूसरों को मनाना होता था। एक आदमी या औरत सरदार बन जाता था, परन्तु जिसने जितनी मेहनत की उसका उतना फल पाया। बहुत हुआ धमका कर दूसरे से फल तुड़वा लिया। बल था केवल अपने शरीर का या दोस्तों का।

पर जब खेती शुरू हुई, तो नये गुल खिलने लगे। क़बीले में संतानें हुई, क़बीले की संख्या बढ़ी। खानेवाले अधिक हो गये, परन्तु ज़मीन उतनी ही रही। अब क़बीले में गुज़ारा होता न देख लोग फूट-फूट अलग बसने लगे। उन्होंने अपनी-अपनी ज़मीन अलग अलग जोती। ऐसे बसने वाले लोगों के गाँव बने। पर गाँव की जमीन से भी जब गाँव वालों का गुज़ारा चलना मुश्किल हो गया, तब एक गाँव दूसरे गाँव से छीना-झपटी करने लगा। लड़ाई में जो दल हारा उसके आदमी क़ैद हो गये। इन क़ैद हुए आदमियों को मुफ़्त में खिला पिलाकर मोटा करने से फ़ायदा? इससे तो यही अच्छा था कि उन्हें भून कर दो दिन जश्न मनाया जाय!

लेकिन एक दिन मुरग़ी का पुलाव बना लेने की अपेक्षा रोज़-रोज़ अण्डे का नाश्ता करना बेहतर है। एक रोज़ ही क़ैदियों को खा डालने से यह अच्छा समझा गया कि उन्हें ज़िन्दा रखा जाय और उनसे कस कर मेहनत करायी जाय।......गुलाम पैदा हो गये।

दासता का युग

गुलाम क्या हुए, समाज का रूप ही बदल गया। पहले पेट भरने के लिये दूसरे गाँव पर हमला होता था। अब गुलाम पकड़ने के लिये ही होने लगा। पहले अपने हाथ से काम करके ज़रूरत पूरी होती थी, अब अगर आपके पास गुलाम हैं तो मसनद पर बैठिये, गुलाम आपका सब काम करेंगे। पहले आदमी में जितनी शक्ति थी उससे वह अपना पेट भर पालकर थक जाता था, अब उसके थकने का सवाल नहीं रहा। इसलिये उसे पहाड़ खोदने र दरिया पाटने की हिकमत सूझने लगीं। मीलों से सुन्दर पत्थर ढो-ढोकर रोम, मिश्र और भारत में भव्य इमारतें खड़ी होने लगीं और गुलामों

के मालिक और ज़रूरी काम न होने से आकाश में बुद्धि के घोड़े दौड़ाने लगे। सितारों की चाल के हिसाब लगे। समय काटने के लिये बाँस में तार बाँध कर वीणा बनी और उस दास-स्त्री को—जो ज़मीन खोद और पत्थर तोड़ कर उतने आनन्द की सृष्टि न कर सकती थी जितनी कि वह स्वामी के समान कमर में बल दे-देकर और ठुमक-ठुमक कर उसकी आँखों को रिझा सकती थी, हुक्म हुआ—'तुम नाचो' !

उस सुन्दरी के हाव-भाव ताल पर संगीत चला, जिसने मालिक के कानों को अमृत से भर दिया ! उस संगीत में, न केवल कानों को तृप्त करने वाले, परन्तु हृदय को गुदगुदा देने वाले वर्णन, व्याख्या और संकेत पैदा हुए। ऐसे विचक्षण को जो किसी भी स्थूल पदार्थ के बिना शब्दों से ही मोहक चित्र बना दे कवि, महाकवि और पण्डित की उपाधि दी गयी।

समाज में कला और विद्या का प्रसार हुआ और फिर पेट भरे ठाली बैठे मनुष्य ने सोचा कि यह अन्धड़, यह बिजली की कड़क, नदी, समुद्र तो मेरे क़ाबू नहीं आ सकते हैं। मेरी रक्षा उसी को रिझाने में है जो इन्हें चलाया करता है।

फिर वह सोचने लगा—इस सुन्दर संसार समाज को छोड़ कर, हाय, एक दिन मर जाना होगा ? विद्वान् और चतुर पुरुषों ने कहा—डरने की बात नहीं। एक देश है जो इससे भी सुन्दर है। यदि तुम जिस तरह हमारे कहे अनुसार, दान-पूजा कर छोटे-मोटे संकटों से बचते रहे हो, अगर उसी तरह हमारा कहना मानो, तो उस देश में हम तुम्हें पहुँचा सकते हैं। हम तुम्हारे लिये उस देश के मालिक तक पहुँचने का प्रबन्ध कर देंगे। तुम हमारे लिये छोटी-मोटी ज़रूरतें पूरी करने का प्रबन्ध किये जाओ ! हम तुम्हारे धर्म-गुरु हैं !

कुछ के पास धन अधिक था, कुछ के पास कुछ नहीं। भूखे मरते, जब पुराने क़ायदे के मुताबिक़ अपनी ज़रूरत पूरी करने के लिये छीना-झपटी करने लगे, तो धनवानों ने कहा—यह पाप है। ऐसा क़ायदा बनाया गया कि [illegible] न हो, लड़ाई-झगड़ा न हो [illegible] कहा गया—देखो, तुम्हारे मालिक तुम्हारे पिता हैं, इनके लिये जान तक दे दो, इन्हें प्रसन्न करोगे, तो [illegible] इस जन्म में न सही अगले जन्म में [illegible] और अगर तुमने मालिक

को आज्ञा न मानी, तो यह जन्म तो तुम्हारा गया ही, अगला भी जायगा। न्याय के अवतार सुकात ने कहा—दास-प्रथा सभ्यता के विकास के लिये आवश्यक और न्याय है।

परिवार का विकास

युद्ध होते ही रहते थे। इनमें स्त्री के लिये मर्द के समान लड़ सकना कठिन था, लेकिन जो मर्द मारे जाते थे उनकी कमी को पूरा स्त्री ही कर सकती थी। वह समाज में ही समाज की उत्पत्ति का स्रोत थी। इसलिये निश्चय किया गया कि स्त्री को मार डालना नुक़सानदेह है, वह पाप है। इसके अलावा, जैसे अन्न प्राप्त करने के लिये ज़मीन की ज़रूरत होती है, उसी प्रकार मनुष्य की खेती उत्पन्न करने के लिये स्त्री रूपी ज़मीन की ज़रूरत होती है। इसलिये धर्मशास्त्रों में स्त्री को 'क्षेत्र' या खेती का आदर-सूचक नाम दिया गया।

जब तक व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति नहीं होती थी, स्त्रियाँ समाज की या क़बीले की साझी सम्पत्ति होती थीं। कुलों की निजी सम्पत्ति होने लगीं, तो स्त्रियाँ कुलों की सम्पति होने लगीं और बाद में पतिदेवता की।

ढोल, गंवार (शूद्र) पशु, नारी। यह सब ताड़न के अधिकारी।

अपनी सम्पत्ति को पीटने में कुछ बुराई नहीं। पुराने समय में रूस में जब बाप पति को लड़की सौंपता था, तो एक हंटर भी वक्त ज़रूरत के लिये साथ दे देता था।

परन्तु समाज का शरीर बढ़ने से यह चौखटा चर्राने लगा। दासों ने बग़ावतें शुरू कीं। मालिकों ने कहा—काम हो न हो, दासों को ठाले बैठे खिलाते जाओ, यह कौन न्याय है? हम ज़मीन देते हैं, यह हमारी ज़मीन को जोतें बोयें, पैदावार हमें दें, अपना भी पेट भर लें। धर्माचार्यों और क़ानून बनाने वालों ने कहा—ठीक है, मनुष्य-मनुष्य सब बराबर। किसी का दूसरे व्यक्ति को दास बना कर रखने का क्या अधिकार?

बड़े-बड़े गाँव बसे जो बड़े-बड़े आदमियों की सम्पत्ति थे। इन बड़े आद-को सर्दार, सामन्त, ज़मींदार या ताल्लुकेदार के अधिकार थे। यह राजा

कीछत्र-छाया में छोटे राजा हो गये। इनकी ज़मीन में बसने वालों को कहा गया—तुम सरदार की प्रजा हो, इस ज़मीन को छोड़कर तुम कहीं जा नहीं सकते।

सामन्त युग

ग़ुलामी के ज़माने में, जो ग़ुलाम मालिकों के लिये बढ़िया मलमलें और कीमख़ाब बुना करते थे और इतर खींचा करते थे वे स्वतंत्र हो दूकानें करने लगे। पहले इन्हें रोटी भर मिलती थी, अब यह लगे दाम लेने। गाँव-गाँव फिर यह सामान बेचते फिरते थे। कुछ समझदार लोग इनसे माल ख़रीद दूर देशों में जा कीमतें बढ़ा-चढ़ा कर माल बेचने लगे। इन चीज़ों को ख़रीदने के लिये बड़े आदमियों को ज़रूरत हुई ज़्यादा रुपये की। वे अपनी प्रजा को निचोड़ने लगे। जब उससे पूरा न पड़ा, तो ज़मींदारियाँ बिकने लगीं और साथ ही प्रजा भी बिकने लगी। परन्तु दासों की तरह नहीं। जैसे ज़मीन में लगे पेड़ ज़मीन के साथ बिक जाते हैं, उसी तरह। व्यापारियों को ज़रूरत थी मज़दूरों की और राजा को सेना में सिपाहियों की। ज़मींदार अपनी प्रजा को ज़मीन छोड़ कर जाने न देते थे। समाज का चौखटा चर्राने लगा।

निश्चय किया गया कोई किसी को बाँध कर नहीं रख सकता। मनुष्य-मनुष्य सब बराबर हैं। सब को हक़ है, चाहे जहाँ काम करे और अपना पेट भरे। समानता, स्वतंत्रता और न्याय के नारे गूँजने लगे। धर्माचार्यों और न्याय के पण्डितों ने कहा, भगवान का आदेश भी तो यही है।

इधर समाज के चौखटे में यह डावांडोल देख पानी ने भाप बन कर संसार को हिलाना शुरू कर दिया। इंजन चलने लगे। सभ्यता ने कहा—मनुष्य को दास न बनाने देंगे, हम लोहे को दास बनायेंगे। आदमी का काम मशीन करेगी। दास-प्रथा की ज़रूरत क्या!

औद्योगिक क्रान्ति

कलें और कारख़ाने खुल गये। मनुष्य शहद की मक्खियों की तरह शहरों में बसने लगे। गाँव से लोग दौड़-दौड़ शहरों को आने लगे। दिन भर काम किया और टके वसूल किये। क्या अच्छा तरीक़ा है! मालिकों ने

कहा—दिन भर सौ आदमी से काम कराया, आधे मुनाफ़े में सबको टकराया! क्या अच्छा तरीक़ा है।

मनुष्य ने सोचा, प्रकृति की सबसे बड़ी देन स्वतंत्रता ही है? और वह स्वतंत्रता उसे मिल गयी। स्वतंत्रता से उसने एक दूसरे का मुक़ाबिला शुरू कर दिया। छोटे कारख़ाने से बड़े कारख़ाने खुलने लगे। बड़े कारख़ानों के सस्ते माल के सामने छोटे कारख़ानों का माल महंगा पड़ा, वे उजड़ गये।

हाथ से काम करने वालों का तो कहना ही क्या! वे अपना हथौड़ा, बसूला और करघा बेच कारखानों में नौकरी करने चले। एक बहुत बड़ी श्रेणी ऐसे लोगों की पैदा हो गयी, जिसके पास सिवाय दो हाथों के कमाने का और कोई साधन नहीं रह गया। इधर एक मशीन, जो पहले तीन-चार आदमी का काम करती थी, अब तीस-चालीस का काम करने लगी। मज़दूर श्रेणी ख़ूब बढ़ने लगी। यह श्रेणी पूर्ण रूप से स्वतंत्र है, चाहे काम करे, चाहे हाथ पर हाथ धर कर बैठी रहे। परन्तु पेट! वह इन्सान के ऊपर बड़ा बन्धन है। वह नहीं बैठे रहने देता।

पेट भरने के लिये जब तक साधन न हों वह भर नहीं सकता। जब यह पेट भरने और तन ढाँपने के लिये तैयार सामान की क़ीमत अदा नहीं कर सकते, तो मिल-मालिक और व्यापारी इन्हें क्यों पालने लगे? जब यह लोग ख़रीद नहीं सकते, तो मालिक को पैदावार कम करनी पड़ती है। इसका मतलब होता है, कुछ और आदमी बेकार। ज्यों-ज्यों बेकारी बढ़ेगी, त्यों-त्य खपत कम होती जायेगी। ज्यों-ज्यों खपत घटेगी, पैदावार कम करनी पड़ेगी, बेकारी बढ़ती जावेगी और इस सब का मतलब है करोड़ों का नंगा, भूखा रहना।

पूँजीवाद का दिवालियापन

अब फिर समाज का चौखटा चर्राने लगा है। आज समाज के जीवन में व्यक्ति का महत्व कम रह गया है। जो काम होता है सम्मिलित तौर पर होता है। कील, काँटा तक बनाने के लिये सैकड़ों आदमियों को एक साथ सिर ने पड़ते हैं, परन्तु लाभ जाता है एक ही आदमी की जेब में। मालिक

रहता है एक ही आदमी, और वह आदमी कारख़ाने और मिल को चलाता है केवल अपने मुनाफ़े के लिये। धन पैदा करने के सब साधन बहुत थोड़े व्यक्तियों के हाथ में हैं। वे पैदावार के चक्र को चलाते हैं अपने मुनाफ़े के लिये, समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये नहीं।

एक ओर गोदामों में करोड़ों का माल भरा पड़ा है, गेहूँ की क़ीमत चढ़ाने के लिये उसे जलाया और समुद्र में फेंका जाता है। दूसरी ओर लोग भूख से बिलबिलाते हैं, सर्दी गर्मी में कपड़ा न होने से मरते हैं। बाज़ारों में शोर मच रहा है—ख़रीदार नहीं, खपत नहीं। जनता में शोर मच रहा है, रोटी नहीं, कपड़ा नहीं।

मांग भी है, सामान भी है, परन्तु समाज के चौखटे का क्रम ठीक नहीं बैठता। वह चर्रा रहा है। इसके लिये अजीबोग़रीब उपाय सोचे जाते हैं। दूसरे देशों के बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करो उन देशों में अपनी पैदावार खपाओ। हो सकता है, कुछ समय के लिये किसी देश का गुज़ारा यों चल जाय, पर कब तक ?

आख़िर कोई देश दूसरे का शिकार क्यों बने ! और फिर संसार के बड़े-बड़े सभी देश दूसरे देशों को नोचें-खसोटेंगे, तो लाश पर कुत्तों की तरह खुद भी तो लड़-लड़कर मरेंगे।

आज संसार में मनुष्य-समाज की यही हालत है। मनुष्यों के आराम और सुख के बजाय मेहनत की जाती है और रुपया ख़र्च किया जाता है, मनुष्य-समाज का संहार करने के लिये। इंगलैण्ड अरबों रुपया गोला, बारूद और तोप तैयार करने में ख़र्च कर रहा है— जर्मनी उससे अधिक, तो फ्रांस उससे अधिक और अमेरिका उससे अधिक ! आख़िर बताइए, इस अरबों और अरबों रुपये से जिसे दुनिया ने मेहनत कर पैदा किया है और जिससे मनुष्य का नाश कर देने के उपाय और साधन तैयार किये जा रहे हैं, समाज को क्या लाभ होगा ?

मालिक ऐसी कोशिश कर रहे हैं कि मेहनत करने वाले जिस हालत में हैं उसी में बने रहें। मेहनत करने वाले कोशिश कर रहे हैं कि मेहनत करने के लिये तैयार रहने पर भी उन्हें मेहनत करने के अधिकार से वंचित न किया

जाय और मेहनत करने पर भी वे भूखे न रहें। कशमकश, तनातनी और संघर्ष ज़ोर पकड़ रहा है। समाज का चौखटा चर्रा रहा है।

धर्म-गुरु और आचार्य कहते है कि भगवान् और प्रकृति ने इस चौखटे को ऐसा ही बनाया है, इसे तोड़ने की कोशिश करना फ़िज़ूल है, नादानी है, परन्तु जिनकी गर्दनें दब रहीं हैं, उन्हें ऐसे मीठे उपदेशों को समझने लायक़ होश ही नहीं। वे मुसीबत से पागल हो रहे हैं।

नयी व्यवस्था की ओर

बहुत दिन से समाज का यह चौखटा चर्रा रहा है। इस चर्राहट को सुन कर एक आदमी ने कहा कि यह चौखटा बदल देना चाहिए। उसने कहा, नया चौखटा ऐसा हो कि जितने काम साझी मेहनत से किये जाँय उनका फल भी लोग साझे में बाँट लें। उत्पत्ति के साधनों को कोई अकेले पैदा नहीं करता, वे सब के साझे हों। देशों को यों बाँटकर आपस में लड़ना फ़िज़ूल है। सब देश ऐसे मिल कर रहें जैसे एक देश के अनेक शहर, गाँव मिलकर रहते हैं, उनके दिलों में भेद नहीं होना चाहिए। लोगों ने हिसाब लगा कर देखा है कि संसार में इतनी पैदावार होती है कि किसी के भूखा मरने की ज़रूरत नहीं, परन्तु वह ठीक तरह से बंटती नहीं। वजह यह कि व्यक्ति का या श्रेणी का स्वार्थ ऐसा होने नहीं देता। सब दुःख दूर हो जायँ यदि समाज की प्रधानता हो जाय। व्यक्ति के हानि-लाभ को न देख कर समाज के ही कल्याण की बात सोची जाय। यह ज़माना है पूँजीवाद के रूप में व्यक्तिवाद का, हमें ज़रूरत है समाजवाद की।

हम कहते हैं—पूँजीवाद के चर्राते हुए चौखटे की जगह अब एक नये चौखटे की ज़रूरत है।

स्वराज्य और श्रेणी-समस्या

(१६३६ की स्थिति)

प्रत्यक्ष में इस समय हमारे देश का वातावरण विशेष क्षुब्ध नहीं दिखायी देता। जनता जेल जाने की तैयारी नहीं कर रही है, जो जेल में थे, जिनके निकट भविष्य में छूट जाने की कोई आशा नहीं थी, वे भी बाहर आ रहे हैं और जो अभी तक बाहर नहीं आ पाये, उनकी प्रतीक्षा में जनता उतावली हो रही है। ब्रिटिश वरिष्ठ शक्ति से कोई समझौता न कर केवल लोहा लेने की ही बात न सोच, हमारे राजनीतिक कर्णधार सौदे और भाव-तोल की बात-चीत में लगे हैं। आठ प्रान्तों में कांग्रेस की नीति का बोलबाला है, हम क्रियात्मक या रचनात्मक कार्य-क्रम की ओर झुके दिखाई देते हैं।

यह सब ठीक है, परन्तु आज जैसी राजनैतिक जागृति हमारे देश में है ऐसी पहले कभी न थी और जो ठोस प्रश्न आज हमारे सामने हैं वे पहले कभी न थे। अब तक हमारे राजनैतिक संग्राम की एक पुकार थी—स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। जब तक हम लोग केवल भावुकता या वजहदारी से ही प्रेरित होकर स्वराज्य को कल्पना और स्वप्न का विषय समझते रहे, निहायत सहूलियत से यह पुकार हमारा काम देती चली गई। परन्तु ज्यों ही हमारे आन्दोलन में वास्तविकता का पुट आया, हम गम्भीरता से अपनी समस्याओं को सोचने लगे, हमारे सामने अनेक टेढ़े सवाल पैदा हो गये।

स्वराज्य की कल्पनाएँ

हम सोचने लगे—स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार तो है, परन्तु वह स्वराज्य कैसा होगा ? भिन्न-भिन्न श्रेणी और विचारों के लोग स्वराज्य की कल्पना अपने अपने स्वप्नों के अनुसार करने लगे। धनपति व्यापारियों और मिल-मालिकों ने समझा—स्वराज्य का अर्थ होगा कि विदेशी व्यापार को हम

जाय और मेहनत करने पर भी वे भूखे न रहें। कशमकश, तनातनी और संघर्ष ज़ोर पकड़ रहा है। समाज का चौखटा चर्रा रहा है।

धर्म-गुरु और आचार्य कहते है कि भगवान् और प्रकृति ने इस चौखटे को ऐसा ही बनाया है, इसे तोड़ने की कोशिश करना फ़िज़ूल है, नादानी है, परन्तु जिनकी गर्दनें दब रही हैं, उन्हें ऐसे मीठे उपदेशों को समझने लायक़ होश ही नहीं। वे मुसीबत से पागल हो रहे हैं।

नयी व्यवस्था की ओर

बहुत दिन से समाज का यह चौखटा चर्रा रहा है। इस चर्राहट को सुन कर एक आदमी ने कहा कि यह चौखटा बदल देना चाहिए। उसने कहा, नया चौखटा ऐसा हो कि जितने काम साझी मेहनत से किये जाँय उनका फल भी लोग साझे में बाँट लें। उत्पत्ति के साधनों को कोई अकेले पैदा नहीं करता, वे सब के साझे हों। देशों को यों बाँटकर आपस में लड़ना फ़िज़ूल है। सब देश ऐसे मिल कर रहें जैसे एक देश के अनेक शहर, गाँव मिलकर रहते हैं, उनके दिलों में भेद नहीं होना चाहिए। लोगों ने हिसाब लगा कर देखा है कि संसार में इतनी पैदावार होती है कि किसी के भूखा मरने की ज़रूरत नहीं, परन्तु वह ठीक तरह से बंटती नहीं। वजह यह कि व्यक्ति का या श्रेणी का स्वार्थ ऐसा होने नहीं देता। सब दुःख दूर हो जायँ यदि समाज की प्रधानता हो जाय। व्यक्ति के हानि-लाभ को न देख कर समाज के ही कल्याण की बात सोची जाय। यह ज़माना है पूँजीवाद के रूप में व्यक्तिवाद का, हमें ज़रूरत है समाजवाद की।

हम कहते हैं—पूँजीवाद के चर्राते हुए चौखटे की जगह अब एक नये चौखटे की ज़रूरत है।

(१६३६ की स्थिति)

प्रत्यक्ष में इस समय हमारे देश का वातावरण विशेष क्षुब्ध नहीं दिखायी देता। जनता जेल जाने की तैयारी नहीं कर रही है, जो जेल में थे, जिनके निकट भविष्य में छूट जाने की कोई आशा नहीं थी, वे भी बाहर आ रहे हैं और जो अभी तक बाहर नहीं आ पाये, उनकी प्रतीक्षा में जनता उतावली हो रही है। ब्रिटिश वरिष्ठ शक्ति से कोई समझौता न कर केवल लोहा लेने की ही बात न सोच, हमारे राजनीतिक कर्णधार सौदे और भाव-तोल की बात-चीत में लगे हैं। आठ प्रान्तों में कांग्रेस की नीति का बोलबाला है, हम क्रियात्मक या रचनात्मक कार्य-क्रम की ओर झुके दिखाई देते हैं।

यह सब ठीक है, परन्तु आज जैसी राजनैतिक जागृति हमारे देश में है ऐसी पहले कभी न थी और जो ठोस प्रश्न आज हमारे सामने हैं वे पहले कभी न थे। अब तक हमारे राजनैतिक संग्राम की एक पुकार थी—स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। जब तक हम लोग केवल भावुकता या वजह-दारी से ही प्रेरित होकर स्वराज्य को कल्पना और स्वप्न का विषय समझते रहे, निहायत सहूलियत से यह पुकार हमारा काम देती चली गई। परन्तु ज्यों ही हमारे आन्दोलन में वास्तविकता का पुट आया, हम गम्भीरता से अपनी समस्याओं को सोचने लगे, हमारे सामने अनेक टेढ़े सवाल पैदा हो गये।

स्वराज्य की कल्पनाएँ

हम सोचने लगे—स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार तो है, परन्तु वह स्वराज्य कैसा होगा ? भिन्न-भिन्न श्रेणी और विचारों के लोग स्वराज्य की कल्पना अपने अपने स्वप्नों के अनुसार करने लगे। धनपति व्यापारियों और मिल-मालिकों ने समझा—स्वराज्य का अर्थ होगा कि विदेशी व्यापार को हम

भारी अयात-कर लगा कर कुचल देंगे, हमारे खज़ानों में सोना बरसने लगेगा। ज़मींदारों ने सोचा—हम पर दबाव रखने वाली ब्रिटिश शक्ति का नाश हो जायगा। अपनी अधिकृत भूमि के हम निरंकुश स्वामी हो जायँगे, सामंतवाद के गये दिनों के मीठे स्वप्न उन्हें दिखायी देने लगे। देशी नरेशों ने भी सन् ३० में ब्रिटिश शासन के प्रति बढ़ते हुए असंतोष की लहर को देखा, भारत में स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की उमंग को अनुभव किया, एक दफ़े फिर वे महा-महिमा छत्रपति बनने का ख्वाब देखने लगे। पहली गोलमेज़ कान्फ़रेन्स में स्वयं उन्होंने ही संघ शासन की चर्चा चला दी। मध्यम श्रेणी के नौकरी पेशा लोग और छोटे-मोटे व्यापारी सोचने लगे, स्वराज्य का अर्थ होगा कि तनख्वाहें बढ़ जायेंगी टेक्स घट जायगे, पुलिस की डाँट-फटकार कम हो जायगी। किसानों ने समझा—लगान कम देना पड़ेगा, बेगार बन्द हो जायगी। मज़दूरों ने समझा—मज़दूरी बढ़ जायगी, बेकारी से छुटकारा मिलेगा, भर पेट खायेंगे,बेख़ौफ़ चलेंगे। मालूम होता था सभी का भला होगा, सभी की मन-चाही मुरादें पूरी होंगी, परन्तु ज्यों-ज्यों भिन्न भिन्न श्रेणियाँ अपने स्वप्नों को ठोस रूप देने का यत्न करने लगीं, परस्पर संघर्ष की सम्भावना पैदा होने लगी।

नेताओं की आशंका

हमारे नेता श्रेणी-संघर्ष की इन सम्भावनाओं से आशंकित हो रहे हैं। उनका कहना कि इस प्रकार श्रेणी-स्वार्थ के विचार से प्रेरित होकर स्वराज्य के आन्दोलन को संचालित करने की प्रवृत्ति घातक है। इसके परिणाम-स्वरूप श्रेणी-वैमनस्य बढ़ाकर हम ब्रिटिश शक्ति के मुक़ाबिले में न केवल निर्बल हो जायँगे, बल्कि लक्ष्य-भ्रष्ट हो, स्वयं ही लड़ मरेंगे। मोटी नज़र से देखने से यह आशंका बहुत ठीक मालूम होती है और यही उचित जान पड़ता है कि पहले प्रजातांत्रिक क्रांति द्वारा राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लें फिर इन प्रश्नों पर विचार करनेका समय आयेगा। यह दलील हमें अपने उदार-दल के नेताओं (Liberal leaders) की दलील की याद दिला देती है।

कहना भी कितना माक़ूल है—हमें पहले ब्रिटिश शासन की संरक्षता

में देश की आर्थिक, सांस्कृतिक उन्नति कर शासन का अनुभव प्राप्त कर लेना चाहिए। स्वराज्य के योग्य हो जाने पर ब्रिटिश शासन के सहयोग से हम स्वयं स्वतंत्रता और स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे।

यदि स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, तो किस प्रकार का स्वराज्य हम चाहते हैं या किस प्रकार की समाज या शासन-व्यवस्था में हमारा हित है, यह सोचने का अधिकार भी हमारा जन्म-सिद्ध है। जब हम स्वराज्य-प्राप्ति के लिये प्राण की बाज़ी लगा रहे हैं, तो हम उसका विश्लेषण किये बिना, उसकी वास्तविकता की छानबीन किये बिना नहीं रह सकते। आख़िर स्वराज्य है क्या? देश में देश के राज्य के का अर्थ है क्या? या कहिए देश का ही अर्थ क्या है?

नक़्शे में तो 'हमारे देश' का अर्थ है—कुछ पर्वत श्रेणियाँ, कुछ नदियाँ, भूमि का एक बहुत बड़ा टुकड़ा। स्वराज्य का अर्थ निश्चय ही इन जड़ पदार्थों की स्वतंत्रता नहीं है। स्वराज्य का अर्थ है—इस भू भाग में रहने वाले लोगों की स्वतंत्रता और उनकी समृद्धि। इतना ध्यान में रख लेने पर हम अपने लक्ष्य स्वराज्य की मीमांसा और परिभाषा किये बिना नहीं रह सकते। यदि स्वराज्य का अर्थ हम देश की जनता की स्वतंत्रता और हित समझ लें, तो हम इस प्रश्न की अवहेलना नहीं कर सकते कि जनता का या देश की अधिक से अधिक जनता का लाभ कैसे हो सकता है।

अनिवार्य श्रेणी-संघर्ष

वास्तविकता की ओर से आँखें बन्द कर अपने आपको धोखा देने से क्या लाभ? हम यह बात भूल नहीं सकते कि हमारे देश की जनता अन्य देशों की जनता की भाँति, भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त है और समाज में इन श्रेणियों के परस्पर सम्बन्ध ऐसे हैं कि उनके हितों में संघर्ष अनिवार्य है। एक श्रेणी की समृद्धि या स्वतंत्रता प्राप्त करने का अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि दूसरी श्रेणी, जो अब तक प्रथम श्रेणी की पराधीनता या दीनता से लाभ उठाती रही है, अपने हितों को ख़तरे में समझे। यह बात अप्रिय ज़रूर है, परन्तु सत्य है। प्रत्येक मनुष्य संसार के अन्य प्राणियों में अपनी ही आत्मा

अनुभव कर, उनके सुख से सुखी हो, यह रोचक सिद्धान्त त्याग और आध्यात्मिक व्याख्यानों के लिये बहुत अच्छा विषय है, परन्तु कोई समाज इस पर कभी अमल नहीं कर सका। कुछ व्यक्तियों की बात जाने दीजिए; व्यक्ति सद्भावना से प्रेरित होकर स्वार्थ का त्याग महत्तर स्वार्थ अर्थात् समाज और जगत् के कल्याण के लिये कर सकता है, परन्तु एक सम्पूर्ण श्रेणी या समाज अपने हितों या स्वार्थ का बलिदान नहीं कर सकता, करेगा भी तो किसी उद्देश्य से ?

जब हमारा समाज श्रेणियों का समूह है, क़दम-क़दम पर जब श्रेणियों की समस्या हमारे सन्मुख अनिवार्य रूप से आयेगी ही, तो क्यों न हम परिस्थिति को उसी दृष्टि से देखें ? यदि जिस स्वराज्य को हम प्राप्त करना चाहते हैं; वह हमारे देश की जनता या अधिकांश श्रेणियों के हितों के विरुद्ध जा रहा है तो हम जनता को सदा के लिये उल्लू बनाकर उसे न प्राप्त कर सकेंगे, न क़ायम ही रख सकेंगे। यदि वह देश की बहु-संख्यक जनता के हितों के स्वार्थ के अनुकूल है तो उसे स्पष्ट स्वीकार करने में हर्ज ही क्या ? बल्कि उसे स्पष्ट तौर पर अंगीकार कर उसका एलान करके ही हम अपने स्वतंत्रता के संग्राम को सबल और सफल बना सकेंगे। जिन श्रेणियों के हित बहुसंख्यक जनता के हितों के प्रतिकूल हैं उन्हें भी हम मूर्ख नहीं बना सकते। वे अपने लिये आने वाले ख़तरे को ख़ूब समझती हैं। उनका सहयोग राष्ट्रीय आन्दोलन को कभी मिल नहीं सकता और हम उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये बहुसंख्यक जनता को, प्राय: सम्पूर्ण देश को, उनके स्वार्थ और हित की बात सोचने और कहने से वंचित नहीं कर सकते।

शोषितों का स्वराज्य

जिन श्रेणियों के हित परस्पर विरुद्ध हैं उनमें संघर्ष होता ही है। परोपकार की भावना और आध्यात्मिकता की लीपापोती कर हम उन्हें सदा बहला कर नहीं रख सकते। यदि देश के मुख्य अंग किसानों और मज़दूरों को ...य में पेट भरने का अधिकार या अपने श्रम से उपार्जित कमायी को ...ने का अधिकार भी नहीं मिलता, उनके लिये स्वराज्य का अर्थ ही

क्या होगा ? उन्होंने जो कुछ त्याग या कष्ट अपने स्वप्नों की प्राप्ति के लिये सहन किया है उसका क्या मुआविज़ा उन्हें मिलेगा और और भविष्य में उनसे जो और भी अधिक त्याग की आशा की जा रही है, उसी के लिये वे क्यों तैयार होंगे ?

हमारा अपने स्वतंत्रता संग्राम का अनुभव हमें बताता है कि कुछ श्रेणियाँ सदा हमारी महत्वाकांक्षाओं के विरुद्ध रही हैं। उन्होंने सदा हमारे शोषकों का ही साथ दिया। वे देश की जनता के शोषण में हमारे शोषकों के हिस्सेदार हैं, उनके लिये ऐसा करना ही स्वाभाविक है। उनके संतोष के लिये हम यदि दलित और शोषित श्रेणियों की माँग को दबा देने का यत्न करेंगे तो इसका अर्थ होगा कि हमें स्वराज्य के स्वप्न को ही भूल जाना होगा या फिर ब्रिटिश शोषण की जगह देशी शोषण स्वीकार करना होगा।

किसान और मज़दूर श्रेणी-समस्या

एक ओर तो हम देखते हैं—संसार का मनुष्य-समाज श्रेणियों का समूह है। मनुष्य-जाति का इतिहास, भिन्न भिन्न श्रेणियों के विकास, उनकी पारस्परिक उतरा-चढ़ी और संघर्ष का इतिहास है। दूसरी ओर हम देखते हैं—हमारे देश में इस प्रश्न को दृष्टि से ओझल करने का और इसे दबा देने का प्रयत्न किया जा रहा है! मानों हमारे देश का सामाजिक और आर्थिक संगठन शेष संसार से पृथक् और भिन्न हो। इसमें सन्देह नहीं कि अभी हाल तक हमारे देश में श्रेणियों के भेद का प्रश्न उत्कट रूप में उपस्थित नहीं था। इसके तीन कारण थे। प्रथम उद्योग-धंधों की उन्नति का अपेक्षाकृत अभाव, दूसरा सामाजिक और राजनैतिक जागृति का अभाव, तीसरा और प्रधान कारण जो अब भी मौजूद है—है विदेशी शासन की मौजूदगी। विदेशी शासन की मौजूदगी में अपनी प्रत्येक राष्ट्रीय न्यूनता और हीनता का कारण हम स्वभावतः ही इस शासन को समझते रहे। दलित श्रेणियों का ध्यान मुख्य-शोषक की ओर ही रहा, उन्होंने हमारे अपने ही देश में मौजूद उन श्रेणियों की ओर कभी ध्यान

न दिया, जो विदेशी शासन के संरक्षण में शोषण का एक बड़ा भाग हड़प कर, विदेशी शासन के वृक्ष की जड़ों का काम करती रही है।

जब हमने देश की सम्पूर्ण शक्ति से विदेशी शासन-व्यवस्था के वृक्ष को उखाड़ फेंकने का यत्न किया, तो हमें मालूम पड़ा कि इस वृक्ष की जड़ें हमारे समाज में कितनी गहरी पहुँची हुई हैं और यह जड़ें हमारे समाज की भूमि में, पृथक पृथक श्रेणियों के रूप में मौजूद हैं। यदि हम वर्त्तमान शासन-व्यवस्था के बाहरी रूप को काट-छाँट भी दें यानी गोरे शासकों को भगा भी दें, तो भी इस शासन-व्यवस्था की जड़ों से जो शाखा-प्रशाखा निकलेगीं, वह भिन्न नही होगी। देश की जनता का शोषण यह वृक्ष इसी प्रकार करता रहेगा।

शोषण क्यों?

यदि हम राह चलते किसी भी देश-वासी से पूछें कि देश की दुरावस्था का क्या कारण है? तुरन्त उत्तर मिलेगा—विदेशी शासन। परन्तु विदेशी शासन के कारण हमारी दुरावस्था क्यों है? इसे सर्व-साधारण ठीक ठीक नहीं समझते। ब्रिटिश भारत की अपेक्षा भी देशी रियासतों में जनता की दुरावस्था क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर वे नहीं दे सकते। आम ग्रामीण—या शासन व्यवस्था और राजनीति से अनभिज्ञ जनता का ख़याल है कि अंग्रेज लोग भारतवर्ष से टैक्स के रूप में धन संचय कर जहाज़ों पर लाद विदेश ले जाते हैं, देश से सब सोना चाँदी खिंच गया है और देश में नोटों के रूप में काग़ज़ ही काग़ज़ रह गया है। इससे परे उनकी दृष्टि नहीं जाती! सत्याग्रह और असहयोग के ज़माने में स्वयं कांग्रेस के प्रचारक इस प्रकार की बेसिर-पैर की बातें फैलाते फिरते थे उनका स्वागत भी ख़ूब होता था और एक हद तक जनता में असंतोष फैलाने के लिये यह बातें कारगर भी थीं।

यह बतंगड़ उस समय चल जाता था, लेकिन आज नहीं चल सकेगा। आठ प्रान्तों में आज कांग्रेसी सरकारें चल रही हैं। टैक्स वहाँ आज भी लिया जा रहा है, बल्कि और टैक्स बढ़ाने की तदबीरें सोची जा रही हैं। आज हम लोगों के लिये यह कहना कि कांग्रेस-मंत्री टैक्स इकट्ठा कर विलायत [illegible] देते हैं, सम्भव नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी शासन-व्यवस्था में [illegible] इकट्ठा करने और व्यय करने की जो नीति थी, वह सदा देश की

प्रगति के मार्ग में बाधक रहीं और स्वायत्त-शासन में जो कुछ गुंजाइश है उसके अनुसार कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल जहाँ तक सम्भव है देश की दलित श्रेणियों के साथ सहानुभूति प्रकट करने का यत्न कर सकता है। कांग्रेस द्वारा अख्तियार की गयी नीति में सदाशय का आभास ज़रूर है। उससे कुछ सहायता भी दलित श्रेणियों को ज़रूर मिलेगी, परन्तु उनकी दुरवस्था का अन्त इससे न हो सकेगा। ज़रूरत है—समाज और देश की शासन-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की।

दुरावस्था किनकी ?

हमारे देश की दुरवस्था के क्या कारण हैं ? यह जानने के लिये पहले यह देखना ज़रूरी है कि दरअसल हमारे देश में दुरावस्था है किसकी ? हमारे देशी नरेशों की दुरावस्था नहीं, हमारे ताल्लुक़ेदारों और ज़मींदारों की दुरावस्था नहीं। हो सकता है पहले की अपेक्षा वे किसी क़दर कम स्वच्छन्द हों, उनकी निरंकुशता में कुछ कमी आ गयी हो, राजसी ठाट और प्रमोद में रुपया पानी की तरह बहाने की सहूलियत में फर्क पड़ गया हो, कुछ कर्ज़ सिर पर हो गया हो, परन्तु उनकी दुरावस्था नहीं। मिल मालिकों की दुरावस्था नहीं कोठी-पतियों और व्यापारियों की भी दुरावस्था नहीं। वे भूखे नहीं, नंगे नहीं रहने की जगह से लाचार नहीं। उनके प्रसाद आकाश को फोड़ते चले जा रहे हैं, उनकी मिलों की चिमनियों का धुआँ, उनकी क्षमता की ध्वजाएँ आकाश में फहरा रहा है। उनके मोटरों और वाहनों में कमी नहीं आयी। मोटरों के प्रति वर्ष नये नये आने वाले माडलों की खपत कम नहीं हुई, उल्टे बढ़ती ही जाती है ऊँची तनख़्वाह पाने वाले सरकारी अफ़सरों या पूँजीपतियों की दलाली और कारिन्दगी करने वालों की दुरावस्था नहीं। ऊँचे पेशेवर लोग भी दलित नहीं हो रहे हैं। इन्हें विदेशी शासन के प्रति यही शिकायत है कि शोषण का बड़ा भाग वह शासन ले जाता है और इन्हें अपनी महत्वाकांक्षा पूर्ण करने का अवसर नहीं मिलता।

दुरावस्था है उन लोगों की जो अपने शरीर का पसीना बहा कर उपज और पैदावार मुहय्या करते हैं। जो समाज के विराट रथ में घोड़ों और पहियों का काम करते हैं, वे पिस रहे हैं। उन्हीं के पेट ख़ाली हैं, उन्हीं के शरीर

नंगे हैं और जो समाज के रथ पर बैठकर सवारी कर रहे हैं या रथ की बागडोर हाथ में सँभाले हैं, चाहे चिंता के बोझ से उनके माथे पर त्योरियाँ पड़ रही हों, जान के लाले उन्हें नहीं पड़ रहे हैं।

किसानों की दुरावस्था ?

वास्तव में श्रम करने वाली श्रेणियों या समाज के अंगों को लीजिए—सब से पहले आप के सामने ज़मीन से सिर मारने वाला किसान आता है। श्रेणी रूप से या सामूहिक रूप से इसकी क्या अवस्था है, यह किससे छिपी है ! यह सब कुछ उत्पन्न करके भी वह कितना दीन-हीन और पराश्रित है ? समाज की शिकारी श्रेणी के हाथ में वह बिना पंख का पक्षी है। वह कितनी बिडम्बना का पात्र है ? इसका अन्दाज़ा आप इसी बात से लगा सकते हैं कि उसका दूसरा समानार्थक नाम है—गंवार !

किसान अपने किसानपने का चाहे जितना अभिमान कर ले, कोई दूसरा व्यक्ति न तो किसान बनने को तैयार होगा, न कहलाने को। फिर भी हमारे देश की सम्पूर्ण आबादी के तेईस (१६३०) करोड़ मनुष्यों में से जो भूमि से सम्बन्ध रखते हैं, इक्कीस करोड़ अस्सी लाख किसान ही हैं। शेष एक करोड़ बीस लाख ही ऐसे हैं जो अपने आप को दीन-हीन किसान न कह कर मालिक कहलाने का अभिमान कर सकते हैं। एक हद तक इन लोगों का यह अभिमान ठीक ही है, क्योंकि देश की भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी में से एक अरब अस्सी करोड़ रुपया इन्हीं के पेट में चला जाता है, जिसके लिये इन्हें हाथ से मेहनत नहीं दिमाग से चालबाजी ही करनी पड़ती है।

इक्कीस करोड़ अस्सी लाख का कांम है मेहनत से पैदा करना और एक करोड़ बीस लाख का काम है, ढंग से व्यय करना ! मोटे हिसाब से कह सकते हैं कि प्रति एक भाग्यवान् के सुख और आराम की व्यवस्था के लिये अट्ठारह अभागे मेहनत कर मरते हैं। कौन इनकार कर सकता है कि इन दो कोटियों के प्राणियों की दो भिन्न भिन्न श्रेणियाँ हैं ? जब तक मौजूदा सामाजिक और आर्थिक शासन-व्यवस्था रहेगी, इस बड़ी श्रेणी का जीवन छोटी आराम-श्रेणी के आधीन रहेगा और उन्हें सुख-चैन, स्वतंत्रता और पेट ...ना कभी नसीब नहीं हो सकेगा। जब भी यह बड़ी परन्तु पराधीन

श्रेणी यह इच्छा करेगी कि उनकी मेहनत का फल उनके ही हाथों में रहे छोटी श्रेणी, जिसके हाथ में विदेशी शासन-व्यवस्था की दया और सहायता से शक्ति है इस श्रेणी का विरोध करेगी। अब यदि देश की स्वतंत्रता की लड़ाई का उद्देश्य देश की बहुसंख्यक जनता की स्वतंत्रता है तो कौन श्रेणी स्वतंत्रता के लिये लड़ेगी ? वह श्रेणी जो देश की बहु संख्यक जनता को स्वतंत्रता-प्राप्ति में अपना विनाश देखती है किस ओर सहयोग देगी ? यह समझ लेना कठिन है यदि आप इस शोषक शक्ति सहयोग प्राप्त करना ही चाहते हैं, तो आपको देश की स्वतंत्रता का अर्थ बदल देना होगा। इस अवस्था में देश की स्वतंत्रता का अर्थ होगा—शोषक श्रेणी के अधिकारों की रक्षा और वृद्धि और बहु-संख्यक जनता या दलित श्रेणी की सदा के लिये पराधीनता और दुरावस्था।

विदेशी शासन-व्यवस्था के इस देश में क़ायम रहने का उद्देश्य क्या है ? यदि वह उद्देश्य इस देश की प्राकृतिक सुविधाओं और जनता का शोषण है, तो वह इसे इस देश की अल्पसंख्यक शोषक श्रेणियों के सहयोग से ही पूर्ण कर सकता है। विदेशी शासन-व्यवस्था और ये श्रेणियाँ इस उद्देश्य में सहयोगी और साझीदार हैं और दोनों का कल्याण वर्त्तमान व्यवस्था के क़ायम रहने में ही है।

हम जो कुछ कह रहे हैं, स्वप्न में नहीं बक रहे हैं। ऊपर हम किसान-श्रेणी का ज़िक्र कर रहे थे। इस श्रेणी के प्रति ब्रिटिश शासक-शक्ति का क्या रुख़ है इसे आप एक ही उदाहरण से समझ जायेंगे। किसानों और खेती की शोचनीय अवस्था देख सरकार ने एक जाँच कमिटी (Royal Agricultural Commission) नियत की थी। पहिली हिदायत इस कमिटी को यह कर दी गयी कि भूमि के बटवारे या मिल्कियत के सम्बन्ध में ज़बान हिलाने की ज़रूरत नहीं। खेती का आधार है ज़मीन। जब उसी के सम्बन्ध में कोई सुधार या परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो अवस्था में परिवर्तन कैसे हो सकता है ? मतलब—सुधार हो या बिगाड़, सरकार अपनी सहायक शोषक श्रेणी की नींव हिला कर अपनी शासन-व्यवस्था की इमारत नहीं गिरा देना चाहती। क्या इस बात से इन्कार करने की कोई गुंजाइश शेष है कि सरकार का दृष्टि-कोण शोषक श्रेणी के हित का दृष्टि-कोण है ?

श्रेणी-समस्या—पूँजीपति और मज़दूर—

इस बात से सहमत होकर भी कि देश में स्वराज्य का अर्थ यहाँ की भूखों-मरती करोड़ों की जन-संख्या का स्वराज्य और स्वतंत्रता है और इस जनता को स्वराज्य की आवश्यकता के प्रति सचेत करने के लिये, स्वराज्य की लड़ाई में उनका सहयोग प्राप्त करने के लिये, उनसे सम्बन्ध रखने वाली आर्थिक समस्याओं को हमें सामने लाना चाहिए। हमारे कुछ नेता उनके श्रेणी रूप से सजग होने और संगठित होने के विरुद्ध हैं। जब हम एक आर्थिक समस्या को उठाते हैं तो उस समस्या से सम्बन्ध रखने वाला समाज सचेत हुए बिना नहीं रह सकता। वे लोग अपने हितों में एक सम्बन्ध अनुभव किये बिना, अपने समान कष्टों के निवारण के लिये सम्मिलित प्रयत्न किये बिना, अपने आपको एक शृंङ्खला में बंधा हुआ अनुभव किये बिना नहीं रह सकते। उपरोक्त बातों को प्रगति का स्वाभाविक मार्ग मानकर, हम श्रेणी-चेतना के विकास और संगठन को किस प्रकार अनुचित बता सकते हैं?

हमारे राजनैतिक नेताओं का दूसरा दल, महात्मा जी के नेतृत्व में श्रेणी-चेतना और श्रेणी-संगठन का विरोध इसलिये करता है कि उसे इसमें हिंसा और वैमनस्य की बू आती है। वे लोग समाज को पुराने पारिवारिक आदर्श पर ही संगठित और परिचालित देखने के मधुर स्वप्न में पड़े हुए हैं। मालिक पिता और मज़दूर पुत्र, यही उनका पुराना गीत है।

पैदावार किस लिये ?

यदि हम समस्या के मूल में जाने का यत्न करें, तो पहला सवाल यही उठता है कि उत्पत्ति या उद्योग-धन्धे का उद्देश्य क्या है, या क्या होना चाहिए? पूँजीपति की दृष्टि से उद्योग-धन्धा चलाने का उद्देश्य है—अधिक से अधिक माल मज़दूरों द्वारा पैदा करवा कर उससे लाभ का अंश प्राप्त करना। मज़दूर के सामने उद्देश्य का सवाल ही नहीं; क्योंकि उद्योग-धन्धे को जारी

करने में उसका कुछ भी हाथ या अधिकार नहीं। वह असहाय अवस्था में अपने श्रम की शक्ति को बेचने जाता है, ताकि पेट भर अन्न प्राप्त कर सके। समाज की दृष्टि में उत्पत्ति का उद्देश्य है—समाज या देश की आवश्यकताओं को पूर्ण करना।

उलझन तब पैदा होती है जब पूँजीपति मज़दूर की मेहनत को इतना अधिक हड़प जाना चाहता है कि मज़दूर का जीवन ही असम्भव हो उठता है। सामाजिक व्यवस्था या परिस्थिति उसके पक्ष में है। समाज में बेकारों की संख्या इतनी अधिक है कि पूँजीपति मज़दूरी के भाव को जितना चाहे गिरा दे सकता है। यदि मज़दूर सम्मिलित रूप से उसका मुक़ाबिला न करें, तो मज़दूरी कितनी कम हो सकती है, इसका अनुमान हम केवल कठिन कल्पना से ही कर सकते हैं।

परन्तु यह क्या न्याय है या उचित है? न्याय और औचित्य का निर्णय सदा किसी न किसी दृष्टि-कोण से ही होता है। यदि पूँजीपति के दृष्टिकोण से देखा जाय, तो वह न्याय-पूर्ण और उचित है। पूँजीपति का दावा है कि अपनी पूँजी से वह कल-कारख़ाना लगाकर धन्धा चलाता है, कुछ लाभ के लिये। मज़दूर को ज़रूरत है, वह आता है। पूँजीपति जो कुछ मज़दूरी देना चाहता है, यदि मज़दूर को मंज़ूर नहीं, तो वह काम न करे, कोई दूसरा आ जायगा।

एक समय था जब इस प्रकार का तर्क ही न्याय की कसौटी था, लेकिन सामाजिक विकास के साथ हमारा दृष्टि-कोण वैयक्तिक न रहकर सामाजिक होता जा रहा है और हम पूँजीपति और मज़दूर दोनों को समाज का अंग मान और तीसरे अंग ग्राहक को उसमें सम्मिलित कर न्याय की विवेचना करने लगे हैं।

न्याय क्या है?

हम इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि यदि मज़दूरों के शोषण की कोई सीमा न रहेगी, तो मज़दूर लोग जो कि समाज का एक बहुत बड़ा अंश है, दिन-दिन शारीरिक और मानसिक अवस्था से गिरते जायँगे और इससे

सम्पूर्ण समाज या देश निर्बल होता जायगा। पूँजीपति इस आपत्ति के बावजूद अपने शोषण के अधिकार का समर्थन करने को तैयार है। उसका कहना है कि उद्योग-धन्धों के विकास में ही देश या समाज का कल्याण है, उद्योग-धन्धों का विकास वह उसी अवस्था में कर सकता है, जब उसे अपने कारोबार में से लाभ का पर्याप्त अंश मिले। देश के कल्याण के नाम पर वह अपने शोषण के अधिकार की सफ़ाई देना चाहता है।

यदि हम इस प्रश्न को मज़दूर की दृष्टि से देखें, तो एक दूसरा पहलू हमारे सामने आता है। उत्पत्ति के प्राकृतिक साधनों को तो कोई नहीं बनाता और पूँजी क्या है?—एक समय मेहनत द्वारा जो उत्पत्ति की जाती है और उपयोग में सम्पूर्ण अंश को न लाकर जो कुछ बचा लिया जाता है, वही कालान्तर पूँजी बन जाता है। इस पूँजी को उत्पन्न करता है मज़दूर और इस पूँजी द्वारा प्राप्त मशीनों पर काम करता है मज़दूर, परन्तु जो उत्पत्ति होती है उस पर अधिकार होता है पूँजीपति का। यह कौन सा न्याय है?

उत्पत्ति के कार्य-क्रम में पूँजीपति का क्या स्थान है? भाग्य से या कौशल से उसने पूँजी के नियंत्रक या प्रबन्ध-कर्त्ता का स्थान ले लिया है। उसके आधीन सम्पूर्ण पूँजी को स्वयं नहीं पैदा किया है। पूँजी की उत्पत्ति में उसका अपना हिस्सा उतना ही है, जितना कि किसी दूसरे मज़दूर, क्लर्क या मैनेजर का, परन्तु व्यवस्था ऐसी है कि प्रत्येक मज़दूर की कमायी का बहुत बड़ा अंश पूँजीपति के हाथ चला जाता है। उसकी शक्ति समाज में रोज़-रोज़ बढ़ती चली जाती है। मज़दूर केवल उतना पाता है जितना कि उसके शरीर में प्राण क़ायम रखने के लिये नितान्त आवश्यक है। वह रोज़-रोज़ अपेक्षाकृत असहाय होता जाता है। मज़दूर का कहना यह है कि उसकी मेहनत का फल उसे पूरा क्यों न मिले?

सामाज़िक दृष्टि से हम यह समझते हैं कि उद्योग-धन्धों का उद्देश्य है—समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना। पूँजीपति जिस सिद्धान्त पर अपने उद्योग-धन्धों को चलाते हैं, उसमें उद्देश्य समाज की आवश्यकता को पूरा करना न रह कर केवल व्यक्तिगत लाभ उठाना रहता है। यदि उद्योग-धन्धों का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना ही हो, तो अधिक

पैदावार फालतू उत्पत्ति या माँग की कमी का सवाल कभी पैदा हो ही नहीं सकता। हम संसार में सब ओर आर्थिक संकट ही देख पाते हैं। आर्थिक संकट है क्या? आर्थिक संकट है केवल खपत से ज्यादा माल का पैदा हो जाना।

आर्थिक संकट क्यों?

एक ओर तो हम अपनी आँखों से सभी तरफ़ कमी ही कमी देखते हैं, लोगों को नंगे और भूखे फिरते देखते हैं। दूसरी ओर व्यापारियों को चिल्लाते सुनते हैं खपत नहीं, माँग नहीं। यह विरोध क्यों? इस विरोध की जड़ है, पैदावार के उद्देश्य में। 'खपत या माँग नहीं' का अर्थ यह नहीं कि जनता को इन चीज़ों की ज़रूरत नहीं। इसका अर्थ है कि जिन लोगों को ज़रूरत है उनके पास मूल्य देने की शक्ति नहीं। मूल्य देने की शक्ति मज़दूरों या किसानों के पास न होने का मतलब है कि जितनी मेहनत वे पूँजीपति की आधीनता में समाज का धन, बढ़ाने में करते हैं, उसका फल उन्हें उतना नहीं मिलता कि वे उसे ख़रीद कर व्यय कर सकें। परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति फालतू पड़ी रहती है, पूँजीपति अपने मिल या उद्योग-धन्धे को बन्द कर देता है। मज़दूर मज़दूरी पा नहीं सकता, बिक्री और भी कम हो जाती है या बन्द हो जाती है। समाज में कारवार या व्यापार की मशीन बिलकुल थम जाती है।

इसी जगह आकर हम देखते हैं कि समाज के पारिवारिक आदर्श (कम्यूनिज़्म) पर संगठित होने की कल्पना मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में असम्भव है। पूँजीपति उत्पादकों का उद्देश्य अपने कल-कारख़ानों से सामान तैयार करने में जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना नहीं, उनका उद्देश्य है—केवल अपने सामान को कम मज़दूरी से तैयार करा कर अच्छे दामों बेच सकना, ताकि उनकी जेब भारी हो सके।

लेकिन ख़रीदेगा कौन? ग्राहक कौन है? जो व्यक्ति मिल में मज़दूर होकर काम करता है, वही मिल से बाहर आकर उस माल को ख़रीदने की भी ज़रूरत महसूस करता है यानी दूसरे सामान को तैयार करने वाला मज़दूर या किसान ही ग्राहक के रूप में आता है। पूँजीपति की नीति है—मज़दूरी कम देकर माल तैयार करने की चेष्टा करना और मज़दूरी कम देने के लिये वह

यह सफ़ाई देता है कि देश की ग़रीब जनता को सस्ता माल पहुँचाने के लिये उसे सस्ती मज़दूरी की आवश्यकता है। यह कम मज़दूरी देने की प्रवृत्ति किसी एक व्यवसाय के ही मिल-मालिकों में नहीं, बल्कि सभी व्यवसायों के मिल-मालिक ऐसा करने की चेष्टा करते हैं। परिणाम यह होता है कि मज़दूर लोग, जोकि ग्राहक भी हैं अपेक्षाकृत ग़रीब होकर मिलों द्वारा तैयार माल को ख़रीदने में असमर्थ हो जाते हैं। नतीजा होता है—आर्थिक संकट !

श्रेणी-संघर्ष कैसे रुके ?

संसार की आर्थिक व्यवस्था में सदा संकट आते रहने और उलझनें पैदा होते रहने का कारण है—उत्पादन के काम में भाग लेने वाली दोनों श्रेणियों अर्थात् पूँजीपति वा शासक वर्ग और मज़दूर या ग्राहक शासित वर्ग के हितों में विरोध होना। समाज के कल्याण के लिये उत्पत्ति होनी चाहिए फिर उत्पत्ति में भाग लेने वाली इन दोनों श्रेणियों में यह तनातनी क्यों ? कारण यही है कि शासक-वर्ग सम्पूर्ण समाज के कल्याण की चिन्ता न कर स्वयम् ही मुनाफ़ा पाना चाहता है। इसलिये उद्योग-धन्धों द्वारा उत्पत्ति का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता और मज़दूर या ग्राहक बेबस होकर पेट की रोटी के लिये लड़ने को आमादा हो जाते हैं। मरता क्या न करता ? हमारे देश में भी उद्योग-धन्धों के पूँजीवादी ढंग पर विकसित होने से स्थिति संसार के अन्य देशों से भिन्न नहीं। हम भी श्रेणी-संघर्ष से बच नहीं सकते। श्रेणी-संघर्ष से बचने का यदि कोई उपाय हमारे लिये है, तो वह श्रेणीवाद का नाश और समाजवाद की स्थापना ही है।

मज़हब का मुलम्मा

आज हमारा देश और समाज बीस वर्ष पहले की तरह निराश और उद्यम-हीन नहीं है। समाज और देश के शरीर में जीवन की स्फूर्ति और स्पन्दन का प्रमाण मिल रहा है। हम पहले की भाँति निष्क्रिय नहीं। बात-बात में हम स्वराज्य की चर्चा करते हैं, स्वराज्य की प्राप्ति के उपायों पर विचार करते हैं। हमारे मार्ग में जो अड़चनें और रुकावटें हैं उनकी विवेचना करते हैं। अनेक प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न विचार रखते हुए भी देश और समाज के सभी अंग इस बात से सहमत हैं कि मुख्य रुकावट हमारे उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में, हमारे देश और समाज में राष्ट्रीयता क़ौमियत का अभाव है। इस लम्बे-चौड़े देश में रहने वाले हम पैंतीस करोड़ हिन्दुस्तानी, एक प्राण और जान होकर, एक उद्देश्य के लिये अपनी शक्ति को संचित रूप से नहीं लगा दे सकते।

हम ऐसा क्यों नहीं कर सकते इस प्रश्न को भी हम सोचते हैं। हमारी बृहत् संख्या अनगिनत छोटे-छोटे समूहों में विभक्त है। अनेक संस्कृतियाँ और अनेक सम्प्रदाय हमारे देश को छोटे-छोटे ताल-तलैयों में बाँटे हुए हैं, इस लिये हम सामूहिक रूप से एक बड़ी नदी की तरह प्रबल वेग से बहकर अपना मार्ग नहीं बना पाते। हम छिन्न-भिन्न हैं, कटे-फटे और बँटे-छँटे हैं, यह तो ठीक, परन्तु हमें कौन चीज़ बाँटे हुए है ? सौ ज़बान से हम इस बात को चिल्लाकर स्वीकार करते हैं कि हमारे देश में मौजूद साम्प्रदायिक, मज़हबी और सांस्कृतिक भेद हमारे समाज में मेड़ों की तरह खड़े होकर हमें एक होने से रोके हुए हैं, परन्तु इसके साथ ही उतने ही बल से, शायद उससे भी अधिक ज़ोर से हम हमारे समाज को छिन्न-भिन्न किये रहने वाली इन मेड़ों को मज़बूत बनाये रखने की पुकार बुलंद किये रहते हैं।

हमारे साम्प्रदायिक नेता चिल्लाते हैं—साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता ! हमारे राजनैतिक नेता उत्तर देते हैं—ज़रूर परन्तु सहनशीलता के

साथ (with tolerance)! हमारे गण्यमान्य मुकुटमणि नेता धार्मिक प्रवृति को राजनीतिक योग्यता का मुख्य अंग मानते हैं। कुछ वर्ष की बात है, लाहौर में एक बहुत योग्य नेता ने अपने व्याख्यान में कहा था कि भारत की मुक्ति का साधन है—राष्ट्रीयता के भाव का उदय और सच्ची राष्ट्रीयता या क़ौमियत तभी पैदा हो सकती है, जब देश का प्रत्येक हिन्दू सच्चा और पक्का हिन्दू, प्रत्येक मुसलमान पक्का मुसलमान और ईसाई सच्चा ईसाई होगा। सच्चे या पक्के हिन्दू, मुसलमान या ईसाई होने की यदि एक ही कसौटी हम निश्चित करना चाहें, तो इसका तात्पर्य होगा—साम्प्रदायिक कट्टरता।

परन्तु साम्प्रदायिक कट्टरता की हमारे नेता निंदा करते हैं। देश की जनता अवाक् होकर अपने इन मार्ग-द्रष्टाओं की ओर देखती है और विमूढ़ होकर रह जाती है। अपने सम्प्रदाय में दृढ़ सत्य-विश्वास और कट्टरता की सीमाओं को पृथक् करने वाली वह सूक्ष्म रेखा कहाँ है, इसे जनता तो समझ ही नहीं सकती, परन्तु हमारे विचक्षण नेता इसे समझ सकेंगे या नहीं, हम नहीं कह सकते। ऐसी कोई रेखा है भी या नहीं, इसमें भी हमें संदेह है।

बहुत सीधा सवाल है, एक सच्चा निष्ठावान् हिन्दू अपने पड़ोसी मुसलमान से हज़ार सहानुभूति प्रकट करे, परन्तु जब मंदिर में ज़ोर से घण्टा बजाने का सवाल आयेगा, तब निष्पक्ष कैसे रह सकता है? वह यदि नियम-धर्म से रहना चाहता है, तो अस्पृश्यता की उपेक्षा कैसे कर सकता है? एक निष्ठावान् मुसलमान कुरान की आज्ञा का उल्लंघन कर रसूल में विश्वास न करने वाले काफ़िर के प्रति कैसे सहानुभूति प्रकट कर सकता है? सम्प्रदाय या धर्म में विश्वास रखते हुए भी कट्टर न होने का अर्थ है, शायद सम्प्रदाय या मज़हब के उपदेशों में केवल विश्वास रखना, परन्तु उन उपदेशों पर आचरण करने की चेष्टा न करना।

साम्प्रदायिकता के इस सहिष्णु रूप का मुख्य स्रोत सेवाग्राम है। वहाँ सच्चे खुदाई ख़िदमतगार और नारायण के सच्चे सेवक एक साथ बैठ कर भोजन करते हैं। एक अल्लाह की तशबीह फेरते हैं तो दूसरे राम नाम की सुमरनी चलाते हैं! भगवान् या अल्लाह प्रसन्न होकर वहाँ अपने आशीर्वाद की वृष्टि करते हैं। यहाँ सुख-चैन का राज्य है। वर्धागंज से आवाज़ आती है—हमारी

ओर देखो, भगवान् के सच्चे सेवक और उपासक हम हैं। क्या तुम हमारा अनुसरण नहीं कर सकते ? धर्म-भीरु जनता हत-बुद्धि होकर उस ओर देखती है। उसकी समझ में कुछ नहीं आता। यह धर्म का अवतार सदियों से चले आये धर्म-संस्कारों के विरुद्ध क्या कह रहा है ? पुरातन सम्प्रदाय में दृढ़ विश्वास रखो, उसके लिये अपना सिर दे दो, परन्तु उस पर आचरण न करो !

सच्चा मुसलमान छटपटाता है। कुरान में हुक्म है—वहदत का डंका बजा देने का। उसके बुजुर्गों ने अपने और काफ़िरों के खून से संसार की भूमि को उर्वरा कर, मज़हब की फ़सल को बढ़ाने का जो उदाहरण पेश किया है, क्या आज उसी को रोक देने का हुक्म दिया जा रहा है ? वर्धा का नया फ़रिश्ता कहता है—बेशक सब ठीक है, तुम अपने-अपने धार्मिक आदेश को पूरा करो, परंतु शान्त और सहिष्णु बने रह कर। भगवान एक है। ख़ुदा, राम और सभी नाम उसी एक शक्ति के हैं।

इस मधुर उपदेश की प्रशंसा सर्वसाधारण जनता करती है, परंतु उसे अपने जीवन में चरितार्थ करने में असमर्थ है। साधारण बुद्धि का एक साधारण व्यक्ति पूछता है यदि 'वह' जिसे भगवान, अल्लाह या ईसू के पिता के नाम से पुकारा जाता है एक है, तो उसकी प्राप्ति के यह सब मार्ग—सम्प्रदाय, भिन्न-भिन्न क्यों हैं ? वर्धा का संदेश कहता है तुम्हारी समझ में फ़रक़ है, तुम ठीक समझ नहीं सकते। गीता, कुरान, बाइबिल सभी का उपदेश एक है।

हो सकता है यह ठीक हो। हमने निष्ठावान् और विद्वान् हिन्दुओं को यह कहते सुना है कि वेद और शास्त्रों पर नुक्ताचीनी मत करो, वह सर्वसाधारण मनुष्य की पहुँच के बाहर हैं। एक आलिम मौलवी ने हमारी मूर्ख तर्क-वृत्ति से चिढ़ कर कहा था—लाइलाह इल्लिला, इन शब्दों का अर्थ समझने की यदि तुम्हें दरअसल इच्छा हो, तो मैं अपनी आयु भर इसकी व्याख्या कर सकता हूँ और यक़ीन रक्खो कि ख़तम न कर पाऊँगा। डर कर उनकी उदारता से लाभ उठाने का साहस न हुआ, क्योंकि इस संक्षिप्त से जीवन में बहुत से काम हैं। बाइबिल को यदि कोई पूर्ण रूप से समझ लेने का दावा करे, तो वह अपनी धृष्टता से केवल ईसाइयों के धर्मभाव को मर्मान्तक चोट ही पहुँचाएगा। जब साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का यह हाल है, या कहिए भ॰।

की ओर मुँह कर चलने का यत्न करने पर हम ठुकरा ही जाते हैं, या उनकी उँगली पकड़ कर चलने की चेष्टा करने पर हमारे हाथ में या तो कुछ आता ही नहीं या पुरमज़ाक अदृश्य शक्ति हम सबको अलग-अलग उँगली पकड़ा कर बहका देती है, तो क्यों न हम किसी दूसरी वस्तु को संकेत मान कर चलने का यत्न करें।

यदि हम राष्ट्रीयता चाहते हैं, यदि विभाजक मेड़ों को तोड़ कर सब जल को मिला कर एक दरिया बहा देना चाहते हैं, तो क्या इन साम्प्रदायिक मेड़ों के आदि मूल साम्प्रदायिक संस्कारों और उस अदृश्य शक्ति के सहारे चल कर ही उसे पा सकेंगे? गले के जिस बोझ ने हमें अब तक गारत किया है उसी पर बार बार मुलम्मा चढ़ा कर ही क्या हम तैर कर पार निकल जाने की कोशिश करते रहेंगे? हम सहिष्णुता का कितना ही मुलम्मा अपने गले के इस चक्की के पाट पर चढ़ाएँ, वह रहेगा सम्प्रदाय या मज़हब ही और वह हमें खींचेगा नीचे की ओर रसातल को ही।

थोड़े से साहस की ज़रूरत है। आँखें खुलने पर हमने कितनी ही मिथ्या धारणाओं और वहमों को मिथ्या धारणा या वहम कह कर छोड़ दिया। क्या इस अन्तिम मिथ्या धारणा से हमारा कभी छुटकारा न होगा? जब तब यह मज़हब का मुलम्मा, चाहे वह कट्टरता का गहरा मुलम्मा हो, चाहे सहिष्णुता का हलका मुलम्मा हो, हम पर चढ़ा रहेगा, हम आदमी के रूप में न पहचाने जायँगे, न दूसरों को पहचान सकेंगे। न हमारी राष्ट्रीयता यहाँ पनप सकेगी, न हम स्वराज्य के उस उद्देश्य की ओर एक भी क़दम बढ़ा सकेंगे, जिसका हम इतना ढोल पीट रहे हैं।

सत्याग्रह का ठेका

एक दफ़े हिम्मत कर पण्डित जवाहरलाल ने लिख डाला था कि महात्मा गांधी अनेक अवसरों पर ऐसी बात कह जाते हैं, जो हमें केवल उनके महात्मापन के कारण ही सहन कर लेनी पड़ती है। पण्डित जी ने अपने आत्म-चरित में इस बात को दूसरे शब्दों में फिर दोहराया है। इस पुस्तक में आप लिखते हैं कि महात्मा जी के जीवन में अनेक विरोधाभास हैं और शायद सभी महापुरुषों में ऐसे विरोधाभास होते हैं। हम इससे कुछ अधिक कहने की इजाज़त चाहते हैं। महात्मा जी के जीवन में न केवल कुछ विरोधाभास हैं, अपितु उनके पत्र 'हरिजन' को पढ़ कर सीमित और मानवी बुद्धि से तो ऐसा जान पड़ता है कि आख़िर में आकर गांधीवाद के सम्पूर्ण सिद्धान्त (Philosophy) और कार्यक्रम परस्पर विरोधी हैं। गांधीवाद की संसार को सबसे बड़ी देन सत्याग्रह (Peaceful resistance) है। धर्म-प्राण होने और ईश्वरीय न्याय में दृढ़ विश्वास होने के कारण गांधीवाद के पास राज्य-शासन का विरोध करने के लिये, भगवान के प्रतिनिधि राजा के ख़िलाफ़ बग़ावत करने के लिये, कोई युक्ति नहीं हो सकती थी, परन्तु परिस्थितियों ने उसे मजबूर किया। गांधीवाद ने बग़ावत की, क़ानून को तोड़ा और उसके लिये अपना नैतिक अधिकार यह पेश किया कि वह आततायी के विरुद्ध भी हाथ नहीं उठाता वह केवल अत्यचार सहन करता है। सत्याग्रही अन्याय नहीं कर सकता। श्रद्धालु समाज इस आविष्कार से मुग्ध और अवाक रह गया।

सत्याग्रह की निंदा

महात्मा गांधी को स्वप्न में भी ख़्याल न था कि यह सत्याग्रह एक दिन उनके ही ऊपर वार कर बैठेगा और उन्हें इसकी निन्दा करनी पड़ जायगी। महात्मा जी ने हड़ताल के सिलसिले में मज़दूरों द्वारा धरना दिये जाने की निन्दा की और इसे निरी हिंसा (Pure Violence) बताया है। यदि किसी जगह मज़दूरों ने धरना देते समय धैर्य खोकर या आवेश में आकर

अशान्ति दिखायी उसकी निन्दा करने का अधिकार किसी भी सत्याग्रही को होगा, हालाँकि इस प्रकार की अव्यवस्था स्वयं महात्मा जी द्वारा परिचालित सत्याग्रह में इतने अधिक स्थानों पर, इतनी अधिक दफ़े हुई कि उसका वर्णन करते जाना हाथ के कंगन को आरसी में देखने का यत्न करना होगा। इस प्रकार की अव्यवस्था या अनुशासन की न्यूनता का सम्बन्ध सिद्धान्त से नहीं, घटना विशेष से हो सकता है, परन्तु महात्मा जी ने मज़दूरों के सत्याग्रह में निन्दा अनुशासन की नहीं की। उन्होंने निन्दा की है—मज़दूरों द्वारा सत्याग्रह को सिद्धान्त रूप से ग्रहण करने की।

मज़दूर और धरना

मज़दूरों की अवस्था क्या है ? वे यह अनुभव करते हैं कि उनकी मेहनत का पूरा मुआविज़ा उन्हें नहीं मिलता। पूँजीवादी राज्य-शक्ति की सहायता से या समाज के संगठन में पूँजीपति का मज़दूरों के ऊपर नियंत्रण है और मज़दूरों द्वारा किये गये श्रम की पैदावार सब पूँजीपति के हाथ में चली जाती है। उन्हें पेट भरने मात्र के लिये भी पर्याप्त भाग उसमें से नहीं मिलता या जिन मिलों को उन्होंने मेहनत कर करोड़ों रुपये कमाकर दिये हैं वे ही मिलें अधिक पूँजी एकत्र कर ऐसी मशीनें मँगा लेती हैं जिनसे पहले की अपेक्षा बहुत कम मज़दूरों से काम हो सकता है। यह मिलें अब मज़दूरों को कान पकड़ निकाल देना चाहती हैं। मज़दूर पेट पर हाथ रख मिलों से असहयोग कर मिलों के सामने सत्याग्रह कर अपने अधिकारों को माँगते हैं ; जीवित रहने का अवसर चाहते हैं। मिल-मालिक बे-घरबारों की ग़रीबी का फ़ायदा उठा दूसरे मज़दूरों को उनकी जगह ले आना चाहते हैं। मज़दूर मिलों के सामने धरना देकर उन लोगों से अनुनय-विनय कर उनके और उनके बाल-बच्चों के पेट की रोटी सदा के लिये न छीन लेने के लिये अनुरोध करते हैं। जब उनकी अवज्ञा की जाती है, वे भूमि पर लेट जाते हैं। वे कहते जाना हो तो जाओ ; पर हमारे शरीर को अपने जूतों से कुचल कर जाओ।

महात्मा जी का दृष्टि-कोण

त्मा जी कहते हैं यह अनुचित है। मज़दूरों को ऐसा करने का कोई

अधिकार नहीं। जब महात्मा जी इसकी निन्दा करते हैं, तो जरूर ही यह अनुचित है। उनका दावा–"Ast he author of peaceful, picketing, I canot recall a single instance, in which I encouraged such picketing" अर्थात् सत्याग्रह के प्रतिपादक की हैसियत से मुझे एक भी ऐसे अवसर की याद नहीं जब मैंने इस प्रकार के धरने को प्रोत्साहन दिया हो। धरसना के नमक सत्याग्रह की याद दिलाने पर आप फ़रमाते हैं, धरसना में नमक के कारख़ानों पर क़ब्ज़ा किया गया और उस पर अपना आधिपत्य रखने की भी चेष्टा की गयी, परन्तु वह तो सरकार के विरुद्ध था।

महात्मा जी के भक्त कहते हैं, महात्मा जी के शब्दों का अर्थ समझ लेना खिलवाड़ नहीं। इसलिये हम दावा नहीं करेंगे कि हम उनके उपरोक्त कथन का अर्थ समझ गये हैं, परन्तु कोशिश किये बिना भी नहीं रह सकते। हम अगर इस कथन का कुछ भी अर्थ समझे हैं, तो यह कि सत्याग्रह केवल सरकार के ही विरुद्ध किया जा सकता है ? हम पूछते हैं सरकार नामधारी शक्ति के अतिरिक्त यदि कोई अन्य शक्ति असहाय और दलितों पर अत्याचार करे, तो दलित और असहाय जनता का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए ? क्या वे चुपचाप कायरता से अत्याचार को सहते चले जाँय ? क्या वे लाठी लेकर उस अत्याचार का मुक़ाबिला करने लगें ?

अनेक अवसरों पर जिन लोगों ने आत्माभिमान छोड़ कायरता के कारण लांछना, अपमान और पशुवत व्यवहार सहन किया है, उनकी महात्मा जी ने घोर निन्दा की है, उन्होंने कहा है—कायरतावश जो लोग अहिंसा का अनुकरण करते हैं उन लोगों की अपेक्षा वे लोग कहीं अच्छे हैं, जो हिंसक होते हुए कम से कम वीर तो हैं।

अहिंसा के नाम पर

मज़दूरों के लाठी लेकर अपने अधिकारों की माँग पेश करने से महात्मा जी उन्हें क्या-क्या नाम धरते यह हमें न पूछने की आवश्यकता है और न बताने की। महात्मा जी इन मज़दूरों के लाठी लेकर चलने पर क्या कहते और क्या नहीं कहते, इस बात को जाने दीजिए। हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है

कि स्वयं कांग्रेसी सरकारें, जिन्हें मज़दूरों की माँगों का औचित्य स्वीकार करना पड़ा, इन मज़दूरों को लाठी उठा लेने पर, बलवाई कह कर सैनिक और पुलिस-शक्ति से इनका दमन कर देती। मिल-मालिक उससे बहुत-ख़ुश होते और महात्मा जी का दावा भी क़ायम रह जाता कि अहिंसा और सत्याग्रह को उनके अतिरिक्त दूसरा कोई व्यक्ति व्यवहार में नहीं ला सकता।

हिन्दू-मुस्लिम दंगों के अवसर पर जब कांग्रेसी सरकारों ने बलवाइयों का दमन पुलिस और फ़ौज की शक्ति से किया महात्मा जी को यह बहुत बुरा मालूम हुआ। उस समय उन्होंने कहा कि हम लोगों को अहिंसा का व्यवहार केवल राजनैतिक क्षेत्र में या सरकार के विरुद्ध आन्दोलन में ही नहीं करना है, अपितु अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में करना चाहिए। आज जब मज़दूर अहिंसा और सत्याग्रह से अपने अधिकारों के लिये मिल-मालिकों का सामना करते हैं, तो महात्मा जी को यह भी उचित नहीं जान पड़ता। शराब के ऊपर धरना देने के लिये और विदेशी कपड़े की बिक्री रोकने के लिये क्या धरना देने के वे सभी उपाय काम में नहीं लाये गये, जिनका उपयोग इस समय मज़दूरों ने किया है। उस समय वह कार्य अहिंसा था, परन्तु आज वह विशुद्ध हिंसा हो गया। गनू देसाई ने काग्रेस के आदेश के विरुद्ध विदेशी कपड़ा बाज़ार में लाने के विरोध में लारी के सामने लेट धरना दिया और प्राण दे दिये। क्या हम पूछ सकते हैं, गनू देसाई ने जिस सत्याग्रह में जान दी थी, वह हिंसा-पूर्ण था या अहिसा-पूर्ण ?

दुरंगी नीति

आपने अनेक परस्पर विरोधी व्यवहार देखे होंगे, पर ऐसा विचित्र व्यवहार न देखा होगा। दंगों के अवसर पर कांग्रेसी सरकारों द्वारा पुलिस और फ़ौज का व्यवहार करने पर महात्मा जी ने कहा कि पुलिस और फ़ौज की सहायता से दंगे का दमन कर कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों ने अपनी अयोग्यता का परिचय दिया, वे अपने आदर्श से गिर गये। परन्तु आज महात्मा जी मिल-मालिकों के पुलिस की सहायता लेने के अधिकार का समर्थन कर रहे हैं और साथ ही कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों का यह कर्त्तव्य समझते हैं कि वे पुलिस द्वारा

मिल-मालिकों की सहायता करें। साम्प्रदायिक दंगा करने वालों और गुण्डों का पुलिस द्वारा शमन करना गांधी जी को सहन नहीं, उन्हें वे प्रेम समझाना चाहते हैं, परन्तु मज़दूरों को पुलिस द्वारा दबाना उनकी दृष्टि में उचित है। इस तर्क या नीति का क्या आधार है, हम नहीं समझ सके।

सभी दार्शनिकों का विचार है नीति के आदर्श संसार भर के लिये एक होने चाहिए, परन्तु महात्मा जी मज़दूरों और मिल-मालिकों के लिये सत्याग्रह और अहिंसा की नीति का व्यवहार उचित नहीं समझते। सत्याग्रह और अहिंसा का ठेका वे अपने ही पास रखना चाहते हैं। यदि हम महात्मा जी के रवैये को निरा महापुरुषों का विरोधाभास ही कह कर नहीं छोड़ देना चाहते तो हमें इसकी तह में जाना होगा। यह देखना होगा उनके इस बेमेल नैतिक सिद्धान्त की बुन्याद कहाँ है। समय-समय पर वे परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का समर्थन जान-बूझ कर करते हैं या अज्ञात संस्कारों के कारण ?

मनुष्य नितान्त निस्स्वार्थ और त्यागी होकर भी दरअसल स्वार्थ की उस प्रेरणा से मुक्ति नहीं पा सकता, जो उसके संस्कारों की बुन्याद में पीढ़ी दर पीढ़ी से बसती चली आयी है। महात्मा जी का न्याय और निस्स्वार्थ भाव प्रशंसा के योग्य होने पर भी वह श्रेणी हित के चक्कर से नहीं निकल सका। जिस श्रेणी के धर्म-विश्वास, जिस श्रेणी की दार्शनिकता की बुन्याद पर महात्मा जी के संस्कार पनपे हैं, जब सत्याग्रह का सिद्धान्त उसी पर वार करने लगेगा, तो वह निश्चय ही महात्मा जी की दृष्टि में अन्याय होगा।

सत्याग्रह को पूँजीवादी श्रेणी या माध्यवित्त श्रेणी पर यों वार करते देख महात्मा जी का पैंतरा बदल जाना यह बात स्पष्ट कर देता है कि महात्मा जी का लक्ष्य या उद्देश्य स्वयं सत्याग्रह या अहिंसा ही नहीं। वह है उस श्रेणी के स्वार्थों की रक्षा, जिसके वे अंग हैं। महात्मा जी पूँजीपतियों से आशा रखते हैं कि वे कृपा और करुणा से एक टुकड़ा रंक और मज़दूर की ओर फेंक देंगे, परन्तु इस बात को सहन नहीं कर सकते कि रंक या मज़दूर ही मालिक के स्थान पर जा बैठे। ऐसा होने से महात्मा जी के सिद्धान्त जिस श्रेणी की दार्शनिकता पर क़ायम हैं, वह श्रेणी ही ग़ायब हो जायगी।

जेल-सुधार—

शरीर पर फ़ोड़ा हो जाने पर दर्द और कष्ट तो होता ही है परन्तु वह घिनौना भी बहुत मालूम पड़ता है। उस ओर देखने को मन नहीं चाहता, परन्तु यदि उसकी उपेक्षा की जाय, तो वह शरीर को बेचैन कर देगा और ताज्जुब नहीं, जो उसे ले ही डूबे। 'जेल' समाज के शरीर में फोड़े हैं। समाज की शासक और नियन्त्रक शक्तियाँ समाज के मवाद को खींच-खींच कर यहाँ इकट्ठा कर देती हैं। इसके बाद आवश्यक हो जाता है कि उस मवाद को साफ़ कर शरीर के रक्ताणुओं (Red corpuscles) को बचाया जाय और अगर मवाद इतनी मात्रा में बढ़ गया है—इतना विषाक्त हो गया है कि सुधर नहीं सकता तो अंग के कुछ भाग को या पूर्ण अंग को ही शेष शरीर की रक्षा के लिये काट दिया जाय।

पिछले ज़माने की ज़र्राही यही थी और अशिक्षित देशों में आज दिन तक बिगड़े फोड़े का यही उपचार है कि अङ्ग का भाग काट दिया जाय। परन्तु चिकित्सा-शास्त्र के विकास के साथ सभ्य समाज में अङ्गों को यथा-सम्भव बचा ही लिया जाता है। वही बात जेलों के सम्बन्ध में लागू होती है। पहले अपराधी पकड़ा जाता था और उसको तात्कालिक दण्ड देकर क़िस्सा पाक कर दिया जाता था। चोरी की है, हाथ काट दो। गाली दी है, ज़बान काट दो। क़त्ल किया है, सर काट दो। अगर जेलख़ाने ही भेजना है, तो सूखे कुएँ में डाल दो। रस्सी में बाँध कर रोटी का टुकड़ा और पानी का लोटा नीचे पहुँचा दिया जायगा।

आज ज़माना है कि क़ैदियों के साथ भी मनुष्यता का सलूक करने की दुहाई दी जाती है। उन्हें मारिए-पीटिए नहीं, गाली न दीजिए। खाने को इंसान का सा खाना दीजिए। पहनने को इंसानों का सा कपड़ा दीजिए। भले आदमी की तरह उनसे बात कीजिए। ऐसे भी भले आदमी हैं, जिन्हें यह बातें बेहूदी मज़ाक मालूम होती हैं। कुछ दूर की कौड़ी लाने वाले

समझते हैं कि कांग्रेस सरकार का भी एक दिन आया है। उन्हें भी अपना चमड़े का सिक्का चला लेने दीजिये, क्या हर्ज है। आख़िर कांग्रेसी मिनिस्टरों को एक दिन फिर जेल जाना है। इसलिये यदि वे समय रहते अपने लिये मुनासिब प्रबन्ध करना चाहें तो इसमें क्या अचरज! जेल के अफ़सर अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि इस लाड़ प्यार से क़ैदी और भी बिगड़ेंगे। अपराधियों की संख्या और भी बढ़ेगी। जेल सज़ा देने की जगह है, न कि मेहमानदारी की!

किसका ख़याल ठीक है, यह समय के दृष्टि-कोण पर निर्भर है। पहले समय का दृष्टि-कोण था, दुष्ट अपराधी आततायी है। वह समाज को हानि पहुँचाता है। उससे बदला लेना चाहिए। आज का ख़याल इससे भिन्न है। आज दिन के समाज-शास्त्री कहते हैं कि अपराधी समाज को हानि ज़रूर पहुँचाता है, परन्तु इस हानि का बदला ले लेने से कुछ लाभ नहीं। वह अपराधी को निर्बल मस्तिष्क या विकृत-प्रकृति का मनुष्य समझते हैं। जैसे शारीरिक व्याधियों का इलाज किया जाता है इसी प्रकार मस्तिष्क की व्याधियों का इलाज कर वे अपराधी को समाज के दुश्मन के बजाय समाज का उपयोगी अंग बना लेना चाहते हैं।

पिछले समय जेलखानों का जो उद्देश्य रहा हो, आज के सभ्य समाज में जेलख़ानों का उद्देश्य अपराधी को सुधारना है। उसके मस्तिष्क और प्रवृत्तियों को सुमार्ग पर लाना है। इसी विचार से प्रायः यूरोप में जेलख़ानों को 'सुधार-गृह' (House of correction) का नाम दिया जाता है। अपराधी को सुधारने के लिये कौन उपाय सफल हो सकते हैं, यह निश्चय करना और उन उपायों को काम में लाना ही इन संस्थाओं का उद्देश्य है। अत्यन्त कठोर परिस्थिति में रह कर अपराधी के मस्तिष्क में जो कुछ मनुष्यता और सहृदयता शेष रहती है वह भी जड़ हो जाती है। वह समाज का और भी अधिक शत्रु बन जाता है। उसकी उपमा उस हिंसक पशु से दी जा सकती है, जो मनुष्य रूप में विचर कर मनुष्य-समाज को निगल जाना चाहता है।

हमारे देश के जेलख़ाने अभी पुराने ढर्रे पर ही चल रहे हैं। हम भी सुधार की ओर क़दम बढ़ाने का दावा करते हैं। हम कहते हैं कि बर्बरता की

उस अवस्था में, जिसमें अपराधी से बदला लेना ही न्याय का उद्देश्य था, जब आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत तोड़ने का नियम था, जब ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाता था उस अवस्था को हम पार कर चुके हैं। परन्तु हम अब भी क़ातिलों को फाँसी पर झुलाते हैं, डाकुओं और दूसरे अपराधियों को आजन्म क़ैद या लम्बी-लम्बी क़ैद की सज़ाएँ देते हैं। शायद यह सब कुछ सुधार के आदर्श को पूरा करने का उपाय है ?

जिसे आपने फांसी के द्वार के उस पार पहुँचा दिया, वह तो केवल परिजनों के दिल को दाग़ देकर ख़तम हो गया ! समाज को उसकी चिन्ता या परवाह करने की ज़रूरत नहीं ; परन्तु जो व्यक्ति उम्र भर के लिये—बीस, पंद्रह, दस या पाँच-सात साल के लिये जेलख़ाने भेज दिया गया, वह समाज के गले में समस्या के फांस की तरह अटक जाता है। वह समाज का शत्रु है, परन्तु समाज उसे आयु भर, या चिर-काल तक अपने ख़र्चे पर पालता पोसता रहता है। यदि अपराधी या आततायी के जीवन में सुधर जाने की कोई आशा नहीं, तो उसे समाज के गले का बोझ बना देना कौन न्याय है ? इस में कौन बुद्धिमत्ता और कौन दूरंदेशी है ? जिन लोगों से समाज को सदा हानि ही पहुँचने की आशा हो, ऐसे लोगों को तो हैज़ा, प्लेग आदि के कीटाणुओं की तरह नष्ट कर देने में ही कल्याण है। आततायी या अपराधी को समाज के सिर का बोझ बना कर रखने के लिये यदि कोई युक्ति हो सकती है, तो वह यही कि उसे हम विशेष कारणों के कारण मस्तिष्क का रोगी समझते हैं और इस बात की आशा रखते हैं कि उचित उपायों से उसका सुधार हो सकता है।

यदि सुधार ही सचमुच हमारा उद्देश्य हो, तो उसके अनुरूप परिस्थितियाँ भी पैदा करनी होंगी और विपरीत परिस्थितियों का निवारण भी करना होगा। पहिला सवाल यही उठता है कि जो आदमी किन्हीं कारणों से असाधारण और विकृत अवस्था में है उसे सुधारने के लिये दुष्ट प्रवृत्ति की संगति से बचाया जाय। इसलिये आप उसे जेल में ले आते हैं। जेल में हमें उस व्यक्ति को सुधारने के लिये केवल नितान्त आवश्यक समय तक ही रखना हिए। पल्टन में जो लोग भर्ती होते हैं, उन्हें लगभग छः मास तक शिक्षा

दी जाती है। इतने समय में भरती हुआ किसान-वा मज़दूर सुघड़ सिपाहीं में बदल जाता है। उसका स्वभाव, प्रकृति और प्रवृत्ति सब बदल जाती हैं। एक अपराधी की मनोवृत्ति को बदलने के लिये इससे दुगना, तिगना, न सही चौगुना समय पर्याप्त होना चाहिए। आयु भर के लिये एक आदमी को पिंजरे में बन्द कर देने में क्या औचित्य है? या हम इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें—इन आततताइयों को मुद्दतों भले आदमियों पर टैक्स का बोझ लाद कर, खिला-पिला कर पालने में कौन सा न्याय है?

जेल में काटे हुए समय का एक साधारण अपराधी पर क्या असर पड़ता है यह भी सोचने की बात है? जिस समय अपराधी आरम्भ में जेल के फाटक के भीतर क़दम रखता है, उसका मन भय और अपनी करनी के प्रति पश्चाताप और परिताप से विभोर हो उठता है। उसे संसार अंधकारमय दिखायी देता है। प्रतिक्षण वह उस अभागे क्षण को बिसूरता है जब उससे न जाने कैसे कोई चूक हो गयी या उसकी अक़ल पर पर्दा पड़ गया। वह रो-रोकर अपने आराध्य देवता से क्षमा और सहायता की प्रार्थना करता है। भविष्य में निष्कलंक और संयम का जीवन व्यतीत करने का प्रण करता। यह है—समय, जब आप उसे नये सांचे में ढाल सकते हैं।

छः मास व्यतीत हो जाते हैं। अब वह उतना द्रवित नहीं। वह सोचता है—"भाग्य के विद्रूप से वह नरक में आ पड़ा है। उसे चुपचाप समय काट कर बाहर पहुँचना है।"

एक साल और बीतता है। अब उसे कभी ही कभी घर की याद आती है। जेल के भीतर आते ही उसे जीवन जैसे बिलकुल असम्भव मालूम होता था, वह बात अब नहीं! वह 'तिकड़म' सीख गया है। जेल के वातावरण के अनुरूप उसके गुण स्वभाव हो गये हैं। जेल उसका घर हो गया है। चातुर्य से जेल के भीतर ही छोटी-मोटी चोरी कर वह अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है।

वर्ष पर वर्ष गुज़र जाते हैं। आख़िर एक दिन आता है, वह अपने चिर आवास को छोड़ कर पुराने, परन्तु भूले हुए संसार में जाता है, जहाँ से

दिन हुए उसकी जड़ें उखड़ चुकी हैं, जहाँ उसके लिये समाज की ओर से तिरस्कार और पुलिस की ओर से पग-पग पर शंका प्रतीक्षा कर रही है। कई दिन पहले से उसकी भूख और नींद हराम हो जाती है। उसे आसरा किसका है ? जेल में आत्म-निर्भरता, आत्म-सम्मान और नैतिकता को खोकर भी उसने कुछ सीखा है। उसने सीख लिया है, अपने से अधिक अनुभवी अपराधियों से अपराध की कला को। उसे अब पुलिस को चकमा दे सकने की अपनी क्षमता पर अधिक विश्वास है। अब वह उतनी जल्दी न्याय के जाल में नहीं फँस जायगा और यदि फँस भी जायगा, तो क्या ? जेल ही तो जायगा। आयु का इतना बड़ा भाग जहाँ उसने काट दिया है, क्या शेष न काट सकेगा ?

अब ज़रा यह भी देखना है कि क़ैदी को आत्म-सुधार के लिये क्या प्रोत्साहन मिलता है ? जेल का कोई भी अफ़सर—महाप्रभु सुपरिण्टेण्डेण्ट से लेकर क्षुद्र चपरासी तक अपना यह कर्त्तव्य नहीं समझता कि क़ैदी को सहानुभूति या प्रोत्साहन का एक भी शब्द कहे। उन्हें मतलब है जेल के क़ानून और अपना रोब पूरा रखने से। जेल का मंत्र है—"कम खाना, ग़म खाना, तब कटे जेलखाना।" इस व्यवस्था में सुधार को कहाँ स्थान है ?

हमारा क़ायदा है कि पुलिस ने अपराधी को पकड़ अदालत के सामने पेश कर दिया। जो सज़ाएँ आज से सौ वर्ष पूर्व के सामाजिक विकास के अनुरूप थीं, लड़ियों और श्रेणियों में गुथी 'पेनल-कोड' में सजी हैं। जज साहब ने देखा—अपराध के नाम से जो माला फिट आयी, अपराधी को सज़ा के रूप में पहना दी। अदालत से जेल के नाम वारण्ट चला—यह सज़ा अमुक आदमी पर पूरी की जानी चाहिए। जेल को और बात से मतलब नहीं, मतलब है सज़ा करने से।

'पेनल-कोड' यानी दण्ड-विधान दण्ड देता है, शिक्षा की व्यवस्था नहीं करता। जेल उस दण्ड को पूरा करता है। क़ैदी दण्ड को दाँत पीस कर झेलता है। समाज ख़र्च निभाने के लिये टैक्स भरता है। क़ैदी छूटता है, जैसा पहले था वैसा ही नहीं, बल्कि उससे बहुत भयंकर। फिर वही चक्कर—वही चोर-कोतवाल का खेल !

यदि हम दर-असल सुधार चाहते हैं, तो दण्ड-विधान के लिये उसमें जगह नहीं, उसमें सुधार-विधान के ही लिये जगह है। आज जेल-सुधार का मतलब समझा जा रहा है—भुने हुए चने की जगह छौंके हुए चने, दाल में कुछ ज़ीरा-धनिया, ओढ़ने के लिये गर्मियों में एक गाढ़े की चद्दर, हो सके तो थोड़ा सा खेल-कूद।

ज़रूरत है, असल में समस्या को जल्लाद की दृष्टि से न देख कर शिक्षक की दृष्टि से देखने की? ज़रूरत है, अपराधी को केवल शिक्षा के लिये, सुधार के लिये कुछ समय तक एक अलग जगह रखने की। आयु भर तक उसे पिंजरे में जकड़ कर, उसके शरीर को निढाल, मस्तिष्क को कुन्द और अनुभूति को जड़कर उसे समाज के लिये बोझ बना देने की नहीं। ज़रूरत तो असल में है—हमारे दण्ड-विधान की जगह एक सुधार-विधान की! सुधार की भावना के अनुरूप तो वही होगा।

हमारी गुलामी तुम्हें मुबारिक—

सुबह की सैर से लौटते समय हम एक दृश्य देखने के आदी हो गये थे। लाटूश रोड पर एक दूकान में—वह कमरा बनाया तो गया था दूकान सजाने के लिये, परन्तु वहाँ दूकान न थी। एक मामूली सी खाट कमरे के बीचो-बीच पड़ी रहती और भले आदमियों के जैसे बिस्तर पर एक आदमी पड़ा रहता था। आदमी के अंग-प्रत्यंग बहुत दुबले और निढाल से जान पड़ते थे और रंग एकदम विश्री, पीला सा। आँखें चेहरे पर अनुपात से बड़ी और सहायता के लिये पुकारतीं सी।

भले घर के से रूप-रंग की एक औरत झाड़ू से कमरे और बरामदे को झाड़ती दिखाई पड़ती है। कभी वह मरीज़ की कराहट सुन उसकी ओर देखती है और कभी फ़र्श पर बैठे गोद के बच्चे का रोना सुन उसकी ओर ध्यान देती।

स्त्री, पुरुष और संतान का यह छोटा सा परिवार कुछ बेमौक़ा सा मालूम होता था। मैंने उनसे पूछा—'दूकान में यह घर कैसा' ?

उन्होंने कहा—'जान पड़ता है, यह आदमी बीमार है, इलाज के लिये लखनऊ आया है। यह लोग यहाँ अपरिचित हैं। मकान ढूँढने की सुविधा नहीं हुई, इसलिए दूकान में ही बस गये हैं।

उस दूकान के समीप से गुज़रते समय ध्यान अवश्य उधर चला जाता। कुछ दूर मैं उसी परिवार की बात सोचती चली जाती। आख़ीर सड़क के दायीं ओर के एक बँगले से हारसिंगार के फूलों की सुगंध आकर ध्यान बदल देती।

वह आदमी बीमार था, उसकी हालत करुणा-जनक थी; परन्तु मुझे उस स्त्री का ही अधिक ध्यान आता था। उसके चेहरे पर एक विषण्ण निराशा सी, भाग्य के सामने पराजय स्वीकार कर लेने का सा भाव छाया रहता था। उसका चेहरा भाव-शून्य सा जान पड़ता था। पति बीमार है, इसलिए इसके, दुःख और चिन्ता का अन्त नहीं। इसे पति की तीमारदारी से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती होगी, तिस पर इसे परदेश में सहायता देने वाला कौन है!

बाज़ार से सौदा-सुलफ़ लाने का भी काम इसी को करना पड़ता होगा और बच्चा गोद में है।

बच्चा गोद में है—कितनी मामूली सी बात है कह देने को; परन्तु जिसे बच्चा गोद में लेकर पालना पड़ता है, उससे पूछिये। बच्चा गोद में होने का अर्थ है, रक्त-मांस के एक लोथड़े को तिल-तिल कर आदमी बनाना। तुम आदमी को देखकर उस प्रभु की महानता का अनुमान करते हो और श्रद्धा से उसके चरणों में सिर नवा देते हो।

वह प्रभु कहाँ हैं, कैसे आदमी की रचना करते हैं, कौन जानता है! परन्तु हम देखते हैं, गली-गली, घर-घर आदमी की रचना हो रही है; परन्तु इन रचना करने वालियों को कोई कुछ नहीं समझता। वर्ष, मास, सप्ताह, दिन, घंटे और सेकण्ड का वह कौन भाग है जिसमें आदमी की रचना का उत्तरदायित्व लिये इन प्राणियों को चिन्ता से छुट्टी मिलती हो।

ख़ैर, वह भले घर की औरत, उसका आदमी खाट पर पड़ा है। वह उसकी तीमारदारी में, चिंता से पल भर को छुट्टी नहीं पा सकती। वह अपनी गोद में एक आदमी की रचना कर रही है। उसके सिर कितना बोझ है! इन दो आदमियों का और अपना पेट उसे नित्य भरना है। दिन में, रात में उनकी प्रत्येक आवश्यकता को उसे पूरा करना है। उसका अपना अस्तित्व कोई नहीं, वह अपने आराम या कष्ट की चिंता नहीं कर सकती, उसका समय अपना कोई नहीं, उसे उसका कुछ अधिकार नहीं। अगर वह अपने आराम का ख़याल करती है तो वह दुष्टा है; नहीं, वह डायन है।

एक भले-चंगे आदमी के आराम की चिंता करना क्या होता है? इसे शायद मेरी बात पढ़ने वाले मुश्किल से जानते होंगे। मैं कुछ-कुछ जानती हूँ, इन्हें अगर पानी के गिलास की ज़रूरत हो, या सिगरेट जलाने के लिये दियासलाई की ज़रूरत हो और वह मुँह से हुक्म निकलते ही सामने न आ जाय, तो इन्हें ऐसा मालूम होता है कि संसार का सब नियम बिगड़ गया, वह अब नष्ट हुआ ही चाहता है और मैं सोच रही थी बीमार और बच्चे की बात, जो सामने रखे गिलास को उठाकर पानी भी नहीं पी सकते, जिन्हें पेट भरने और खाली करने के लिये हर वक्त दो हाथों के सहारे की ज़रूरत है, जो मुँह से

कुछ कह भी नहीं सकते, जिनकी आँख का भाव ही समझना होगा, जो शायद प्रांत और देश के राजनैतिक और आर्थिक आवश्यकताओं और परिवर्तनों को भाँप लेने से आसान नहीं है। वह यह सब कुछ करती है; परन्तु पड़ोस में रहने वाले भी शायद इसे नहीं जानते।

मैंने कई पत्र-पत्रिकाओं में कांग्रेसी मंत्री पंडित गोविन्द वल्लभ पंत की दिनचर्या पढ़ी है। लोग कहते हैं—उन्हें भोजन करने और सोने की फ़ुर्सत भी नहीं मिलती, उनका त्याग धन्य है; लोग उनकी जय-जय पुकारते हैं। लोग उनके दर्शनों को तरसते हैं। सारा प्रांत उनकी उँगली के इशारे को सतर्कता से देखता है। शायद यही उनके त्याग, उनके अनवरत परिश्रम का पुरस्कार उन्हें मिलता है। परन्तु उस स्त्री को—उन सब स्त्रियों को जिनसे गली-मुहल्ले भरे हुए हैं, क्या पुरस्कार मिलता है? उनके लिये पुरस्कार का सवाल नहीं उठता, न उठ ही सकता है। उठे कैसे? यह उनका काम है। इसीलिये उनकी सृष्टि हुई है।

हमारा कुत्ता रात भर जाग कर घर की रखवाली करता है। इशारे पर बिजली की तरह लपक कर आता है। कोई हमें छू सके, इससे पहले वह अपनी जान तक दे देगा। एक प्याले में, जो बरामदे में पड़ा रहता है, उसे रोटी डाल दी जाती है। घर में उसका कोई निश्चित स्थान नहीं। उसे मैंने कभी 'थैंक्स!' नहीं कहा। यदि कहूँ तो उसी दिन सूरज डूबने से पहले पागल-ख़ाने भेज दी जाऊँगी। सामने के मकान में जो लाला जी रहते हैं, उनकी घोड़ी घर भर को गाड़ी में लाद कर मीलों घसीटती है; पर मुझे यक़ीन है कि समझदार लाला जी ने घोड़ी की इस सेवा का पुरस्कार देने की बात नहीं सोची होगी।

यूनान आज मिट सा गया है; परन्तु वह दिन भी था, जब यूनान ही संसार का गुरु था। हमारे भारत को ही लीजिए, एक समय क्या था? भारत और यूनान की उस समय की समृद्धि संसार को चकाचौंध करती थी। दोनों ही सभ्यता के जन्म-दाता समझे जाते हैं। यूनान की सभ्यता का आधार था, वहाँ की दास-प्रथा का नाम सुनकर आपके माथे पर बल क्यों पड़ता? नाक क्यों चढ़ जाती है?

इतिहास के सब विद्वान् और महान् मार्क्सवादी भी इस बात के गवाह हैं, अगर दुनिया में दास-प्रथा न होती तो सभ्यता का विकास भी ऐसा न होता। न बन पाते यूनान के सुन्दर मन्दिर और थियेटर, न बन पाते मिश्र के पिरामिड, न बन पाती चीन की दीवार, न बन पातीं अजन्ता की गुफाएँ, दिल्ली की मीनार और आगरे का ताज।

आहा! वह कैसा सुन्दर दृश्य होगा जब पाँच सौ नर-पशु—मेरा मतलब है ग़ुलाम—रस्सियों से बँधे पंक्तियों में हज़ारों मन पत्थरों से लदी गाड़ियों को खींचते होंगे। उनके पसीने से चमकते हुए शरीर पर पसीने की धारें बह कर धारियाँ पड़ जाती होंगी और घोड़ों पर सवार ग़ुलामों के जमादार लम्बे कोड़े फटकार कर उन ग़ुलामों को जल्दी-जल्दी चलने के लिये ललकारते होंगे। कोई ग़ुलाम साँस तोड़ कर गिर पड़ता होगा, कोड़ा सड़ाक से बोलता होगा, ग़ुलाम के शरीर पर एक सिंदूर रेखा बन जाती होगी, पसीने में रक्त का मेल हो कर जब लाल-लाल धारियाँ बन जाती होंगी, जब दबी हुई हाय सैकड़ों कण्ठों से निकलती होगी! वह कैसा सुन्दर दृश्य होगा, जब दास-प्रथा मनुष्य-समाज की सभ्यता के रथ के लिये यों राज-पथ तैयार करती होगी!

क्या? अब ज़माना बदल गया है? क्या अब स्वतंत्रता, समानता और न्याय का ज़माना है? आदमियों के लिये होगा। स्त्रियाँ तो आदमी नहीं हैं, कभी थीं भी नहीं। उनके लिये स्वतंत्रता, समानता और न्याय का प्रश्न कैसा! देखिये, मनु महाराज ने समाज सृष्टि के आदि में ही कह दिया था कि स्त्री बचपन में पिता के, जवानी में पति के और बुढ़ापे में पुत्र के आधीन रहेगी। जैसे पाँच 'क'कार और 'म'कार होते हैं, वैसे ही स्त्रियों के लिये तीन 'प'कार हैं—पिता, पति और पुत्र इससे बाहर उनका क्षेत्र न है, न होना चाहिए। मैं कहती हूँ, स्त्री आदमी नहीं है। बन्दर की शक्ल आदमी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, पर वह आदमी नहीं! स्त्री की शकल आदमियों से बहुत अधिक मिलती है, लेकिन इससे वह आदमी नहीं बन जायगी। चीनी लोगों में विश्वास था कि स्त्री के आत्मा नहीं होती। युरोप के विद्वान् भी एक समय इस समस्या में उलझे हुए थे कि स्त्री में आत्मा होती है या नहीं? अब तो आत्मा का ज़माना ही नहीं रहा। भला हो Materialism या

भौतिकवाद का, अब स्त्रियों में आत्मा होने, न होने से कुछ बिगड़ने की सम्भावना ही नहीं रही।

स्त्री न आदमी है, न आदमी का दर्जा ही पा सकती है। वह और घरेलू पशुओं की ही तरह आदमी के उपयोग की चीज़ है। हाँ, बहुत ही अधिक उपयोग की चीज़ है। उसके बिना आदमी का काम नहीं चल सकता इसलिये कभी-कभी आदमी भावावेश में आकर उसे पूज्य भी बता देता है। जैसे गाय को हम दूध के बिना काम न चल सकने के कारण गौ माता कहते हैं और गले में रस्सी बाँधकर खूँटे पर खड़ा कर देते हैं, या नदी को गंगा मैया कहकर शहर भर का मल उसमें बहा देते हैं; इन चीज़ों की सार्थकता इसी बात में है कि वह मनुष्यदेव के कितने उपयोग में आती हैं।

क्या दासता का ज़माना नहीं रहा? इस शहर के गली-मुहल्लों में, घर घर में आदमी बनाने की जो कठिन मेहनत की जा रही है, उस मेहनत में लगी हुई स्त्रियों को आप दास न कह कर और क्या कहेंगे? यह सब वह किस पुरस्कार या मेहनत के लिये करती है? समाज को कायम रखने के लिये! समाज से उन्हें क्या लेना-देना? समाज में उनका कुछ अधिकार नहीं? जब उनका अधिकार नहीं, तो समाज उनका नहीं। वे समाज की हैं, समाज उनका नहीं।

आपने सुना होगा, जब समाजवाद पर बहस चलती है और कहा जाता है कि समाज़वाद आने पर सम्पत्ति सबकी साझी हो जायगी, तब मन चले पूछा करते हैं—तब तो औरतें भी समाज में साझी सम्पत्ति हो जायेंगी? यह है, आदमी की ज़हनियत और उसका संस्कार, जो सभ्यता के आडम्बर को फोड़ कर बीच से बोल पड़ता है।

बात तो कह रही थीं उस दूकान में रहने वाले परिवार की, कल उस दूकान में दो-तीन और भी औरतें दिखायी पड़ी थीं। सबकी सब परेशान थीं। हम लोगों ने समझ लिया—शायद बीमार की हालत ख़राब होने की ख़बर पाकर कोई सगे-सम्बन्धी आये होंगे। आज जब हम लोग सैर से लौट रहे थे भाई दूज के दिन कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ हाथों में फूल लिये किलकती जा रही थीं। भाई उनके अभिमान से सिर उठाये साथ चले जा रहे थे। आज

उन्हें तिलक होगा। आज वह छोकरे समझेंगे—हम मर्द इन बहिन नामधारी आश्रित जीवों के रक्षक हैं।

आज दूर से ही उस दूकान ने हमारा ध्यान आकर्षित किया। वहाँ से वेदना-भरी चीत्कार का शब्द आ रहा था। दिल कुछ बुरा सा होने लगा। समीप आकर उधर आँख उठाने में डर लगता था, परन्तु आँख रहती न थी।

बाल खोले, कपड़े अस्तव्यस्त, वे भले घर की स्त्रियाँ सर और छाती पीट रही थीं। वह मर गया।

वह भले घर की स्त्रियाँ, लज्जा जिनका प्राण है, बात करती हैं तो ऐसे कि कोई सुन न ले, इस तरह से चीत्कार कर रही थीं! उन्हें सुध नहीं थी कि लोग उन्हें इस अस्तव्यस्त अशोभनीय अवस्था में देख रहे थे। उनमें से जो सब से बेहाल थी, वही ज़रूर उसकी स्त्री थी।

क्यों न वह यों दुखी हो—उसका संसार आज समाप्त हो गया—उस बात को छोड़ो, उसका ध्यान कर मन दुखी होता है।······कलेजा मुँह को आने लगता है।

परन्तु यदि इससे उलटा हो जाता, यानी वह स्त्री मर जाती, तो क्या इतना बावेला मचता? वह औरत मर जाने पर इतनी बदक़िस्मत न होती जितनी आज न मर जाने पर है। इसीलिये समझदार बड़े-बूढ़े जब मर्द को आशीर्वाद देते हैं, तो कहते हैं—तू चिरंजीव हो! लेकिन जब औरत को असीस देते हैं—तेरा सुहाग बना रहे, तेरा पति चिरंजीव हो, अर्थात् तेरे जीवन की सार्थकता बनी रहे—तू किसी के काम आती रहे।

कुछ लोग कहते हैं, यह सब अशिक्षा के कारण है। मैं समझती हूँ, शायद भारत में सभी अशिक्षित हैं। ज़रा कड़वी बात कहूँगी, हमारे मिनिस्टर भी अशिक्षित हैं, हमारे कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता, सोशलिस्ट लोग सभी अशिक्षित हैं। यह भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के फ़िराक़ में जान दे रहे हैं, परन्तु इनकी स्त्रियाँ चिकों के पीछे ऐसे बन्द हैं, जैसे बनारसी बाग़ (चिड़िया घर) की जालियों के पीछे वे जानवर जिनके उड़ या भाग जाने का ख़तरा है।

एक बड़े विद्वान् डाक्टर साहब हैं, यानी Ph. D. आप फिलासफ़ी की

दवा पिला कर मनुष्य का इलाज करना विलायत से सीख आये हैं, नये विचार के हैं। उनके यहाँ भी वही हाल है जो 'शरीफ़' घरों में होता है। वे इसे अच्छा भी नहीं समझते पर लाचार हैं, क्या करें, मनोविज्ञान शास्त्र के पण्डित हैं—इसलिये उन्होंने इसका कारण भी ढूँढ निकाला है। आप कहते हैं—"Women-folk do not like to cross the limit of Harem because they do not like to take the responsibility. They shirk it. They haven't got the stamina" (स्त्रियाँ हरम के संसार से बाहर नहीं आना चाहतीं, क्योंकि वे उत्तरदायित्व अपने सिर नहीं लेना चाहतीं। उनमें साहस नहीं, जीवन नहीं। इनका कहना ग़लत कैसे हो सकता है ? आख़िर मर्द हैं न।

हमारे साहब कहते हैं, स्त्रियों को भीतर रहते-रहते अभ्यास हो गया है। भीतर रहने में ही वे अपना सम्मान समझती हैं। उन्हें कोई देख ही नहीं सकता, इसी घमण्ड में वे फूली नहीं समातीं। इनका कहना भी ठीक है। मर्द जो कहे सब ठीक है।

मैं एक बात कहती हूँ, स्त्रियाँ आदमी के लिए बहुत उपयोगी जीव हैं। कुछ लोग उन्हें सजा-धजा कर साथ लिये फिरते हैं। इसमें भी एक संतोष होता है, वैसा ही सन्तोष जैसा कि कुत्तों की प्रदर्शनी (Dog-show) में अपना अच्छा कुत्ता भेजने से होता है। एक ग़रूर पूरा होता है—देखो, हम कैसा सुन्दर जानवर लिये फिरते हैं।

हाँ, अगर स्त्री आदमी है, तो वह पुरुष के दर्जे की आदमी नहीं, वह दास है। स्त्री की दासता के सिद्धान्त पर ही समाज क़ायम है। मैं उस दासता के विरुद्ध विप्लव नहीं करना चाहती। मज़े में हूँ। हमारा कुत्ता यदि विप्लव कर भागेगा तो क्या करेगा ?

बहुत हो गया। अब एक बात कह दूँ—हे पुरुष ! तुम्हारी जय हो, हमारा सुहाग क़ायम रहे। हमारी ग़ुलामी तुम्हें मुबारक हो।

पढ़ी-लिखी लड़की

पढ़ी-लिखी लड़की ! वृद्ध उसका ज़िक्र सुन निराशा से मुँह फेर लेते हैं, नौजवान कनखियों से मुस्करा देते हैं और जिन्हें अपने अपढ़ होने का गर्व है वे कुल-वधुएँ मुँह पर आँचल रख लेती हैं।

वह उपहास और वितृष्णा की चीज़ है, परन्तु समाज उसका लोहा मानता है। उसकी क़द्र किये बिना नहीं रह सकता। अनिच्छा से उसे पढ़ी-लिखी लड़की के सामने सिर झुका देना पड़ता है।

साड़ी के आँचल को सिर के ऊपर खिसका कर, एक हाथ में बटुआ, और दूसरे हाथ में कुकरमुत्ता सी छोटी छतरी लिये चेहरे को पाउडर से, बावर्चीख़ाने में फिरी सफ़ेदी की तरह सफ़ेद कर, ऊँची एड़ी के जूते से रूढ़ी जर्जरित समाज की छाती पर ठोकर लगाती हुई वह जब कालिज और बाज़ार पर धावा करती है तो बुज़ुर्ग वितृष्णा से सिर झुका लेते हैं और नौजवान धृष्टता से घूमने लगते हैं। वह अपनी रोमांचित त्वचा पर इन नज़रों के आघातों को सहती, इनसे कुछ सकपकाती, कुछ प्रोत्साहित होती, अपने पैरों में सदियों से पड़ी बेड़ियों को रौंदती चली जाती है। स्वच्छन्द वायु में मनुष्यता के अधिकार का लगा स्वाद वह छोड़ नहीं सकती।

वह यह भी जानती है कि इस ज़ाहिरा तिरस्कार के पीछे पुरुष-समाज की पराजय और कातरता छिपी है। जब समाज में परीक्षा की कसौटियों पर कसे होनहार नौजवान के ब्याह की बात चलेगी, जिस दिन समाज के मुकुट-मणि आई० सी० एस० का घर बसाने की ज़रूरत होगी, उस दिन सूरज की रोशनी में दिया लेकर लोग उसे ही ढूँढते फिरेंगे।

उसका पिता, उसकी रूढ़िवादी माता, उसका सम्पूर्ण परिवार, इस तथ्य को स्वीकार करता है। इसी लिये गली-मुहल्ले की उठती उँगलियों की उपेक्षा कर, उसे गाड़ी में बन्द कर, स्कूल भेजना पड़ता है। शादी के बाज़ार में उसका दर बढ़ाना ज़रूरी है; वर्ना बाज़ार में बाक़ी बच रहे सौदे की तरह घर में उसका इस्तेमाल होना भी सम्भव नहीं। वह गले का बोझ घर में पड़ा-पड़ा

सड़ेगा, वंश को ले डूबेगा। इतना ही नहीं, स्वर्ग में विश्राम करते हुए पूर्वजों को भी घसीट कर नरक में पहुँचा देगा।

एक समय था, जब इस प्रकार की अड़चनों का इलाज हमारा समाज कर लिया करता था और भारत की देव-पूज्या वसुन्धरा को कन्या-रत्नों से उपजाऊ बनाया जाता था। लेकिन भारत में कलियुग के चरणों को दृढ़ कर जाने वाले 'विलियम वेन्टिंग' ने वह अधिकार भी भारत की धर्म-प्रिय प्रजा से छीन लिया। अब इस मुसीबत के पैदा हो जाने पर, इस वंश के राहु के उदय होने पर, उसे पालना पड़ता है।

एक समय था, लड़के पढ़ा करते थे ; पर आज लड़के से ज़्यादा ज़रूरी पढ़ाना लड़की का हो गया है। लड़का कमबख़्त पढ़ नहीं पायगा, आई० सी० एस० नहीं बनेगा, दफ्तर में उसे कहीं कुर्सी नहीं मिलेगी, दूकान कर लेगा, कुछ न कर सकेगा घर की जायदाद सम्भाल लेगा। इससे जायगा तो भूखा ही मर जायगा। पर लड़की ?—अगर उस बला को गले लगाने वाला कोई न मिला, तो वह डायन सब-कुछ खा जायगी।

इस धौंस पर उसका स्कूल जाना शुरू होता है, क़दम-क़दम चढ़ती वह समाज के सर पर चढ़ जाती हैं और समाज के स्वामी पुरुष की चुटिया पकड़ मन चाहा नाच नचाती है। पुरुष बेबसी से दाँत पीसता है, मगर मजबूर है। इतना ही नहीं ! अब वह कहने लगी हैं कि समाज में उसकी भी बराबर की जगह है। क्यों वह पालतू जानवर और खानगी नौकर बनी रहे। किसी-किसी का अरमान यह हैं कि चूल्हे के पास न बैठकर दफ़्तर की कुर्सी पर बैठें, बाज़ार और अदालत चलायें। जो कुछ समझदार हैं, उनके कालेज की सीढ़ियाँ चढ़ लेने का मतलब है, जीवन भर के लिये कौमार्य जीवन में ही कमाई कर एक ऐसा आदमी कमा लेना जो उनके लिये संसार में कल्पवृक्ष के समान हो। बँगला, हवेली मोहय्या करे, फूल-सेज सजाये और दुनिया के वह सब ऐशोआराम, जिन्हें सिर्फ़ कमर तोड़ देने और दिमाग़ फोड़ देने वाली मेहनत से पाया जा सकता है, ख़ुद तैयार करे और 'प्राण-प्यारी' के अर्पण करे। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा, मेहनत-मशक्कत का उद्देश्य होता है, एक सफल कामयाब पुरुष 'प्राण-प्यारी' बन सकने की, उसे ख़रीद सकने की योग्यता प्राप्त करना।

हमारे समाज में ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि में इस प्रपंच को सफलता-पूर्वक रच सकना ही स्त्री के जीवन की सफलता है, यह शक्ति स्त्री को प्रकृति ने उसे सब प्रकार से निर्बल और असहाय बनाकर भी दी है और वह सदा से इसका उपयोग करती आयी है। वह कहने को पुरुष के पैर की जूती है लेकिन असल में उसके मुँह की लगाम रही है। मज़ा यह है कि स्त्री की यह दासता स्वीकार करना, अपने भाग्य को स्त्री के पैरों के तले रख देना, पुरुष अपना सौभाग्य, अपनी सफलता समझ गर्व से सर ऊँचा उठा कर चलता आया है।

और पढ़ी-लिखी लड़की की अक़्ल देखिये कि इस अधिकार और रियायत को ठोकर मारकर दर-दर, बाज़ार-बाज़ार आवारा फिरना चाहती है। सारी आयु पुरुष को बेवकूफ़ बना कर उसकी मज़दूरी पर चैन करने की अपेक्षा खुद मज़दूरी करने का जुनून उसके सिर पर चढ़ रहा है। घर की चहारदिवारी की अपेक्षा वह धूप और बरसात के मज़े लेना चाहती है। यह परदा, यह घूंघट, जो अब तक उसके आदर और सम्मान का चिन्ह रहा है, वह उसे फाड़ कर फेंक देना चाहती है। परदा अब उसे अपमान जान पड़ने लगा है। वह कुल-वधू इतना नहीं समझ पाती कि गधे धूप और बरसात में रूड़ी—कूड़े-करकट—के ढेर पर चरते नज़र आते हैं ; लेकिन क़ीमती घोड़े अगाड़ी-पिछाड़ी बँधे, गले में दोनों तरफ़ रस्सी लगे, बन्द अस्तबल में सम्मान और इज़्ज़त के साथ मालिश कराते हैं। पर पढ़ी-लिखी लड़की को इतना बेवकूफ़ नहीं समझा जा सकता ; वह तो हमारे समाज की अक़्ल का इत्र है।

इस सबकी वजह तो बतायी जा सकती है ; लेकिन हमारे बुज़ुर्ग, भरे पेट पर हाथ फेर कर आध्यात्म-चिन्तन करने वाले आदर्शवादी बुज़ुर्ग बौखला पड़ेंगे। वे कहेंगे, हर बात में समाज का आर्थिक विश्लेषण करना कम्यूनिज़्म की पहचान है ; हालाँकि, कांग्रेस के राज में दिलेरी से बातें की जा सकती हैं, लेकिन कम्यूनिस्ट बनना यहाँ भी ख़तरे से ख़ाली नहीं। लेकिन सच को, चाहे वह कितना ही अप्रिय क्यों न हो, छिपाने के लिये विशेष चतुरता की ज़रूरत रहती है। दुर्भाग्य से हो या सौभाग्य से इस चतुरता का भरोसा हमें अपने ऊपर नहीं और न उसकी विशेष साध है।

पढ़ी-लिखी लड़की यह सब क्या और क्यों कर रही है ? हमें जान पड़ता

है, परिस्थितियाँ उसे मज़बूर कर रही हैं। समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ हमारे पारिवारिक संगठन को इतनी बुरी तरह दबा रही हैं कि परिवार का केन्द्र बन कर रहने वाली असूर्यम्पश्या नारी, कुचली हुई निबौरी की गुठली की तरह बाहर निकल आयी हैं। समाज की मौजूदा परिस्थितियों में, अट्टालिका में, चन्दन के छपरखट पर बैठ 'राजा' से नौलखे हार के लिये रूठ-रूठ कर अब जीवन-यात्रा पूरी नहीं हो सकती। 'राजा' की भी एक के बाद एक 'डोला' घर में डाल कर रनिवास बसाने की तौफ़ीक नहीं रही।

पुरुष के सुख और भाग का साधन बन जाने पर भी जब अब समाज नारी को हज़्म नहीं कर सकता, तो शिकार ढूँढने के लिये नहीं, रोटी का टुकड़ा ढूँढने के लिये उसे गली-कूचे की ख़ाक छाननी ही पड़ेगी। बग़ल में पुस्तकें दबा कर स्कूल जाना पड़ेगा, स्टेथिस्कोप लेकर डाक्टरी करनी पड़ेगी, नर्स भी बनना पड़ेगा और अगर इस जीवन के संघर्ष में वह किसी सफल परिश्रम पुरुष को फँसा सके, तो वह अपने भाग्य सराहती हुई बच्चे को हाथ की उँगली पकड़ा कर बँगले की सड़क पर टहलती हुई भी नज़र आयेगी।

आर्थिक स्थितियों ने उसे दबाया, अक्षर-ज्ञान ने उसके पैर की बेड़ियों को ढीला किया और देश के राजनैतिक बवंडर ने समाज को हतबुद्धि कर दिया और चतुर नारी पैंतरा बदल कर बाज़ार में खड़ी नज़र आयी। पुरुष की हुकूमत का दबाव उठ चुका था, वह बोली—देश और राष्ट्र की इस लड़ाई में हम तुम्हारे साथ कंधे से कंधा मिला कर चलेंगी। उस दिन पुरुष ने नहीं जाना था कि यह कंधे से कंधा मिला कर चलने का ख्याल पुरुष के परम्परा-गत अधिकार को चुनौती है।

और सब सह्य होने पर भी पढ़ी-लिखी लड़की का पुरुष की पाशविकता को यों फटकार बताते फिरना बर्दाश्त नहीं हो सकता। यह यों बर्दाश्त कर लेने की चीज़ भी नहीं। हम दुष्यन्त, भीष्म, अर्जुन और पृथ्वीराज के नाम-लेवा हैं। लौखिनवार और ख़िल्जी की कहानी हम पढ़ते हैं और तिसपर यह तितलियाँ हमारी आँखों के सामने ऐंठती और बल खाती फिरती हैं और हमारे भुज-दण्ड फड़क तक नहीं सकते ?

अपने इस पराभाव को यों याद कर कर सिवा होंठ चबा लेने के और

क्या चारा है ? इससे बेहतर यही है कि हमारी पाशविकता को भड़का कर, हमारी असमर्थता का उपहास करने के लिये यह पढ़ी-लिखी लड़कियाँ यों प्रदर्शन न किया करें।

शास्त्र में लिखा है—स्त्री का शृंगार पति के लिये है, उसकी अनुपस्थिति में उसे कूड़े की ढेर की तरह अनाकर्षक बना रहना चाहिए; और यह पढ़ी-लिखी नारी समाज में बन-ठन कर निकलती हैं। मानों वह एक पुरुष-विशेष की भोग्य सम्पत्ति न होकर आत्म-संतोष के लिये शृंगार करती हैं। पुरुष का समाज में आत्म-सम्मान के लिये छैला बनकर निकलना हमारी समझ में आता है; परन्तु नारी का यह चिकनियाँ बनने का दुस्साहस असह्य है। पुरुष अगर फिसलता है, तो उसका उत्तरदायित्व सदा स्त्री के ही कन्धों पर होना चाहिए ? इस सत्य को यह पढ़ी-लिखी लड़कियाँ क्या भूल जाती हैं ?

इन पढ़ी-लिखी लड़कियों के बात-बात पर पुरुष को चुनौती देने के ढंग को आख़िर किस हद तक बर्दाश्त किया जाय ? हम समझते हैं—अपनी इज़्ज़त बचाने के लिये इन अबलाओं,को सात ख़ून माफ़ कर बेलग़ाम छोड़ दिया जाय और शास्त्रों में अपने अधिकारों की महिमा पढ़-पढ़कर दिल बहलाया जाय ? जीवन के संघर्ष में उन्हें आने दिया जाय, इससे बचने का कोई उपाय नहीं।

हम लौट कर समाज की आदिम अवस्थाओं की ओर जा रहे हैं। इतिहास के विद्वान बताते हैं कि समाज की प्रारम्भिक अवस्था में समाज का संगठन समाजवादी ढंग का था और स्त्री पुरुष की सम्पत्ति नहीं होती थी। समाजवाद फिर चला आ रहा है और स्त्रियों ने पहले से ही कहना शुरू कर दिया है कि वे पुरुष की सम्पत्ति बन कर नहीं रहेंगी।

यह नक्षत्रों का संयोग इतना प्रबल होगा कि पुरुष इसके विरुद्ध सिर मार कर भी कुछ न कर सकेगा। इसलिये हमारी सलाह है कि समाज को चलने दिया जाय और अपने बीते दिनों की याद में ग़म खाकर आठ आँसू सटक लिये जाँय। इस ज़माने में जो इस पढ़ी-लिखी लड़की के जाल में फँस जाय, वह अपने को भाग्यशाली समझे और जो बैरंग रह जाय, वह मन मार कर उसे कोसा करे।

नींद नहीं आती

कुछ लोगों से सुना है, नशे में मनुष्य की विचार-तरंग खूब सजीव हो उठती है, कुछ लोग देव-प्रिया सुरा की स्फूर्ति-दायिनी शक्ति के उपासक हैं, कुछ भाँग भवानी के भक्त और कुछ गाँजे की चिलम के ही क़ायल हैं। एक-आध ग़रीब सिगरेट को छोड़ मुझे नशे के मैदान के इन महारथियों से परिचय प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला, इससे उनकी शान में ज़बान खोलने का साहस नहीं कर सकता; लेकिन सभ्यता की चढ़ती के इस युग में विचार-तरंग को उत्कर्ष देने की ज़रूरत किसे न होगी? इसी से मन्दी के इस ज़माने में अपने जैसे ग़रीब आदमियों के लिये अज़माये हुए नुसख़े का परामर्श देता हूँ।

मैं दावे से डंके की चोट कह सकता हूँ कि विचारों की उड़ान को स्फूर्ति देने के लिये, कल्पना के घोड़ों को सरपट दौड़ाने के लिये अनिद्रा अव्यर्थ साधन है। आधी रात के सन्नाटे में जब अपनी अकोमल शय्या पर लेटा, छत की ओर आँखें लगाये निद्रा देवी की प्रतीक्षा में रहता हूँ, उस समय मन और कल्पना उच्छृङ्खल हो जहाँ न पहुँचे वही दूर। कितने विचार मस्तिष्क में आ चक्कर काट जाते हैं, इसकी गणना नहीं। ऊँची खिड़की के लोहे के जंगले से कुछ टिमटिमाते हुए तारे दिखलाई पड़ते हैं। उन्हें देख सोचता हूँ; मेरे विचारों की संख्या क्या इन्हीं के बराबर है?

अनेक विचार अनेक रूप में आते हैं,—कुछ स्मृति के रूप में और कुछ आशा के रूप में। सोचता हूँ—भूत की बात, सुदूर भूत की बात और निकट भूत की बात, और कुहासे से आवृत्त झुट-पुटे भविष्य की बात, कठिन वर्तमान को सदा आड़ में रख कर। भूत मरकर भूत हो गया और भविष्य है स्वप्न; असल है केवल कठिन वर्तमान। सो उस वर्तमान से पल्ला छुड़ा कर मैं कहाँ भाग जा सकूँगा।

मेंढक, झिल्ली, झींगुर अपनी झंकार से रात की वीभत्स नीरवता को सह्य बनाने का यत्न कर रहे हैं, कभी-कभी दूर से कुत्ते का भौंकना भी सुनाई पड़ता है और चुप्पी के बोझ से दबा दूर समीप के अनेक घड़ियालों से रात के घण्टों के बजने का मंद, तीव्र और कर्कश······अनेक प्रकार की धातु की टंकोर का शब्द भी कान को सुनाई पड़ता हैं और नियमित अन्तर से सुनाई पड़ती है क़ैदी चौकीदारों की पुकार—बैरिक नम्बर इतने क़ैदी, ताला, जंगला, लालटैन सब ठीक हैं। इस सबके ऊपर सुनाई देता है, सन्नाटे में दबे पैर आकर नैश-वायु का चिंतातुर मूक वृक्षों से रहस्य-वार्ता करना, वायु के कोमल-सुखद स्पर्श से वृक्षों के पत्तों का मर्मर शब्द।

भूत, भविष्य का चक्कर लगा कल्पना फिर वर्तमान के खूँटे पर आ टिकी, दिन भर का क्रिया-कर्म फिर आँखों के सन्मुख क्रम से दोहराया जाने लगा। अपने इस संकुचित संक्षिप्त संसार में भी तो मैं चिन्ता मुक्त नहीं हूँ। कितने चाव और यत्न से लगाये गये मेरे इन पौदों का क्या कुछ न बनेगा? क्या दीमक इन सबको खाकर छाई कर देगी?

दीमक की असंख्य सेना से छाई जाकर सफ़ेद पड़ गयी पौदों की जड़ें मेरी आँखों के सामने दिखाई देने लगीं। सोचा—कितनों को मार चुका हूँ और कितनों को और मारना पड़ेगा, किस विष से इनका बीज नाश कर सकूंगा?

इस गूढ़ चिन्ता के तार को तोड़ दिया आकर एक मच्छर ने। धृष्ट जीव कान के इतना पास आकर भिन-भिनाने लगा। हाथ के एक वार से उसका फ़ैसला कर निश्चिंत होने पर सोचा···सो गया हूँ या नहीं; यही पता लेने यह मच्छर आया था। सोता पाकर दुष्ट ज़रूर डंक मारता। इन को भी कितना ही मारता हूँ, परन्तु बाज़ नहीं आते। आख़िर कितनों को मारूंगा? यह मुझे सोने क्यों नहीं देते? क्या आराम से सोने का भी अधिकार मुझे नहीं?

दूर पर बहुत से मच्छरों की भन-भन सुनाई दी। सोचा, यह क्या दल-बल से आक्रमण की तैयारी हो रही है? कह चुका हूँ—रात के सन्नाटे में कल्पना अबाध हो उठती है। मच्छरों की उस कानफ्रेंस की बात समझने में

कुछ उलझन अनुभव न हुई। समझ गया; यह लोग अपने स्काउट * के न लौट सकने से चिन्तित हो उठे हैं। सोचा—कल सुबह मच्छर-संसार के समाचार-पत्रों में सनसनीखेज़ ख़बर छपेगी—

"एक वीर सैनिक का दुष्ट नर-राक्षस के हाथों बलिदान! मच्छर जाति के नर-रक्त पीने के जन्म सिद्ध अधिकार के विरुद्ध मनुष्यों की घृणित कार्रवाई!"

"मच्छर-जाति के नौनिहालो! यदि तुम्हारी नसों में अपने पूर्वजों का रक्त वर्तमान है, तो मानव-रक्त पान के अपने अधिकार के लिये लड़ मरो!"

सोचा, मच्छरों की असंख्य सेनाओं का आक्रमण होगा और दोनों हाथों के दो-चार प्रहारों में अनेक सैनिक वीर-गति को प्राप्त कर जायँगे।

ध्यान फिर दीमक की ओर जा पहुँचा। सोचा—दुष्ट इस समय सुख-शांति से पौदों का सत्यानाश कर रहे होंगे और सम्भव है मैदान में खेत रहे बन्धुओं की स्मृति में महति सभा कर निर्दोष दीमकों पर, जो शांति-पूर्वक प्रकृति-दत्त अधिकार से पौदों से भोजन संचय कर रहे थे नर-राक्षस के जघन्य अत्याचार की निन्दा कर रहे हों।

सोचा, मच्छर या दीमक के मृत्यु-जीवन का संसार में क्या महत्व है, करोड़ों ही मरते हैं।

विचार-शक्ति चोट खा जाग्रत हो उठी। सोचा, मनुष्य में और मच्छर में भेद ही क्या है? जीवन-रक्षा के लिये संसार में संघर्ष और प्रजनन की प्रवृत्ति उसमें भी मनुष्य के ही समान है, अन्तर है केवल आकार में। वह इतना छोटा है कि उसका कुछ महत्व हो ही नहीं सकता। सोचा—

आकार छोटा होने से ही क्या है और मनुष्य का ही आकार कितना बड़ा है? ख़याल आया—कुम्भकर्ण का, जिसके मुख में राम की सेना के लाखों बानर प्रवेश कर नाक-कान के रास्ते निकल आते थे और ध्यान आया वृत्रासुर का, जो पृथ्वी को चटाई की भाँति लपेट कर ले चला था और फिर ध्यान

* युद्ध में सेना के आगे चलकर परिस्थिति देखे जाने वाले सिपाही।

आया वोल्टेयर के लिखे शनि-नक्षत्र के निवासी मीक्रोमेगा द्वारा इस पृथ्वी के वर्णन का जिसके लिये इस पृथ्वी पर निवास करने वाले जीवों में से ह्वेल मछली को छोड़ अन्य किसी जीव को आकार की क्षुद्रता के कारण अणुवीक्षणयंत्र (Microscope) द्वारा भी देख सकना असम्भव था, जो विशेष सावधानी से ह्वेल मछली को नाखून के ऊपर टिका माइक्रोस्कोप से देख कर इसी परिणाम पर पहुँचा था कि यह पृथ्वी केवल ह्वेल मछलियों का स्थान है। भूमध्य सागर जिसके पैर के टखने से ऊपर न पहुँच सका था उसके मुक़ाबले में इस मनुष्य शरीर का क्या महत्व है ?

अपने आपको इतना तुच्छ, इतना अगण्य मानने के लिये मन तैयार नहीं हुआ। मन को समझाया—वह सब काल्पनिक वर्णन है। मनुष्य इतना तुच्छ नहीं हो सकता। मनुष्य से बड़ा कौन है ? परन्तु विचार-तरंग तो लगाम तुड़ा चुकी थी। उसने कहा—वृत्रासुर और मीक्रोमेगा काल्पनिक होंगे परन्तु यह उनसे भी कहीं बड़ा जीव समष्टि मनुष्य-समाज तो प्रत्यक्ष सत्य है। इस मनुष्य-समाज के आकार से नर-शरीर का क्या मुक़ाबला। समाज शरीर के अंग के कोटि-कोटि रोमों के एक क्षुद्र भाग से भी तो इस नर-शरीर की तुलना नहीं हो सकती, उसके मुक़ाबिले में इसका क्या महत्व होगा ?

इस अप्रिय आलोचना से मन को हटाने के लिये करवट बदल कर सोचना चाहता था कि कोहनी पर की सूजन ने याद दिला दी—पिछली से पिछली रात एक मच्छर के काटने की। ख़याल आया—इतने मच्छरों से वास्ता पड़ा है परन्तु याद है केवल इसी की, न हो बड़ा वीर था ! मच्छरों के इतिहास में 'शत्रुनाशक' के नाम से इसका नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा गया होगा ! ४८ घण्टे से तो मुझे ही इसकी याद है। यह अड़तालीस घण्टे मच्छर जाति के पंचांग में न जाने कितने बरसों—पीढ़ियों के बराबर होंगे। असंख्य मच्छरों को नितांत तुच्छ और अगण्य समझ कर भी मैं इस मच्छर को महत्व दिये बिना न रह सका। सोचा, सृष्टि के आदि से आज तक अरब गुणा अरब मनुष्य मर चुके हैं। उनकी कोई भी गणना या हिसाब नहीं। मनुष्य-प्राणी वास्तव में ही तुच्छ है, निखिद है—परन्तु उसी समय ख़याल आ गया, इतिहास में चमकते हुए उन नामों का—राम, कृष्ण, विक्रमादित्य,

सिकन्दर, फराउन, अकबर, नैपोलियन। अब तक मनुष्य-समाज इनके नाम भूला नहीं है ठीक उसी तरह जिस तरह मुझे परसों रात काटने वाले मच्छर की सुध है।

उच्छृङ्खल कल्पना ने कहा, राम एक बड़ा मच्छर था, सिकन्दर भी एक मच्छर था, उसके डंक में तीव्र विष था जिससे मनुष्य-समाज का इतना बड़ा शरीर तड़प उठा। ऐसे ही फराउन, अकबर और नैपोलियन भी पराक्रमी मच्छर थे। उनका नाम चला आता है क्योंकि वे एक रोज़ समाज को व्याकुल कर सके थे। सोचा—और भी कुछ मनुष्य इस मच्छर ऐसी करतूत कर गये हैं जिससे उनका समाज उन्हें भूल नहीं सका है। सुनते हैं, एक मच्छर था वाल्मीकि, वह ऐसा मिनमिनाया कि आज तक प्रतिभाशाली मच्छर उसका अनुकरण कर सकना गौरव का हेतु समझते हैं। ऐसे ही मच्छर थे होमर, कालिदास और शेक्सपियर।

यह जो एक ढीठ मच्छर मेरे कान के पास आ भिनभिना रहा है। क्या इसके मन में भी नाम कमाने की महात्वाकांक्षा समाई है और इस मतलब के लिये मेरी नींद ख़राब करने में भी इसे कोई संकोच नहीं? कितने शोक और लज्जा का विषय है?

मुझे मंजूर नहीं—

दुनिया की सभी अच्छी बातें आरामदेह भी हों, ऐसा मेरा विश्वास नहीं। इन बातों में से एक बात सुबह तड़के उठकर सैर करने जाना भी है। आराम हो या तकलीफ़! डाक्टर के हुक्म से जाना ही पड़ेगा। आँखें मलता हुआ चला जा रहा था।

कुछ दूर एक नौजवान खूब ऊँचे स्वर में गाता चला जा रहा था—'तारीफ़ उस खुदा की जिसने जहाँ बनाया।' इसने दिमाग़ को सचेत कर बची हुई नींद को भी भगा दिया। देखा, मैं ही अकेला नहीं। झुण्ड के झुण्ड लोग चले जा रहे हैं। पर उन्हें काम है, उन्हें मिल में जाना है और मिल का बिगुल बज चुका है। इन्हें रोटी का टुकड़ा कमाने के लिये जाना है। पर मुझ पर कौन बला आई है जो यों परेशान हूँ। खैर, डाक्टर की इच्छा! इस युग में विधाता ने अपने अधिकार डाक्टरों को सौंप दिये हैं।

फिर आवाज़ आई—'तारीफ़ उस खुदा की जिसने जहाँ बनाया।' सोचा, खुदा की तारीफ़ ज़रूरत है कि ज़मीं और आसमां बनाये और उस पर हमें भी बनाकर छोड़ दिया। परन्तु उसके आगे किसने क्या बनाया यह दूसरा सवाल है। यह ऊँची तीस हज़ार घोड़ों की ताक़त की मिल और यह चौमंज़िले मकान और यह बाग, यह लहलहाते खेत भी शायद खुदा की मर्ज़ी से, उसी के हुक्म से बने होंगे परन्तु चश्मदीद गवाही तो यह है कि इन्हें इन्सान ने बनाया है।

तारीफ़ उस खुदा की जिसने समुन्दुर बनाया, तारीफ़ उस खुदा की जिसने जंगल, पहाड़, गुफा बनाये; पर मैं न तो समुन्दुर में तैर सकता हूँ और न जंगल पहाड़ की गुफा में मजे से रह सकता हूँ। किसी को अगर बुरा न लगे तो मैं गा देना चाहता हूँ······।

काश, मेरी भी आवाज़ उस नौजवान की तरह गाने-लायक होती और मुझे ईंट-पत्थर से सर फोड़ दिये जाने का भय न होता तो मैं गा देता—'तारीफ़ है उस जवाँ की जिसने मकां बनाया, तारीफ़ है उस जवाँ की जिसने पलंग बनाया, तारीफ़ है उस जवाँ की जिसने कपड़ा बनाया, और फिर रोटी व दाल बनाई, घोड़ा-गाड़ी बनाई, मोटर लारी बनाई और खाने को दवाई बनाई।'

हाँ, तो बनाई किसने ? मैंने पैदा होकर अब तक कुछ नहीं बनाया ! कुछ पढ़-लिख कर अगर कुछ बनाया तो दफ़्तर के रजिस्टर में हिसाब बनाया है और बनाई हैं बातें।

लेकिन क्या हर्ज, मैंने नहीं बनाया तो मेरे भाइयों ने बनाया है। अभिमान से छाती फूल उठी। वे सब लोग जो सुबह मिलों में काम करने के लिए चले जा रहे थे, उन्हीं की तरफ देखकर मैंने कहा—हाँ यह हैं मेरे भाई, जिन्होंने सब कुछ बनाया है।

उसी समय मिल में जाने वालों की शक्ल का सा एक जीव पीछे से दौड़ता हुआ दूसरों के साथ आ मिला। वह हाँप रहा था। मालूम होता था पीछे रह जाने के कारण समय की कमी को पूरा करने के लिये उसे दौड़ना पड़ा है। उसने आते ही कहना शुरू किया—'क्या करें यार लड़का बीमार है, उसकी वजह से देर हो जाती है। उसकी माँ रोटी भी नहीं पका पाती।'

सोचा यह हमारा भाई है, इसका लड़का बीमार है। इसे शायद डाक्टर की भी ज़रूरत पड़ती होगी ? डाक्टर का ख़याल आते ही डाक्टरों की फ़ीस का ख़याल आया। सोचा, यह फ़ीस कहाँ से देता होगा ? डाक्टर की एक दफ़े की फ़ीस तो इसकी महीने भर की कमाई है।

*   *   *

सुबह सैर के वक्त दिल को खुश रखना चाहिये, इस ख़याल से मैंने यह बात भुलाने की कोशिश की। पर जिस बात को भुलाने की कोशिश कीजिये, बरबस पीछे पड़ जाती है।

बार,बार ख़याल आने लगा। यह लोग जो चार मंज़िल का मकान तैयार करते हैं' यह लोग जो इतनी बड़ी-बड़ी मिलें रेल गाड़ियाँ और मोटरें तैयार करते हैं, दुनिया भर का पेट भरने का सामान तैयार करते हैं, इन्हीं को रहने को मकान नहीं रहते हैं, तो ऐसी जगह, जहाँ भले आदमी सिर्फ़ जानवर बाँध सकते हैं और खाते हैं तो वह, जो खाने लायक नहीं और सवारी का तो सवाल ही क्या ?

जिन मज़दूरों ने दिल्ली में वायसराय का महल तैयार किया था आज अगर वे उधर से निकलकर जाना चाहें तो नहीं जा सकते। उधर देखते होंगे तो उनके दिल पर क्या गुज़रती होगी ! ओफ़ अन्याय !

फिर ख़याल आया कि अन्याय इसमें क्या है, उन लोगों ने मेहनत मज़दूरी की, उन्हें उसका दाम मिल गया। जितनी मेहनत मज़दूर लोग करते हैं उस सबका दाम उन्हें मिल जाता है, इसमें अन्याय कुछ भी नहीं। लेकिन फिर ख़याल आया अगर मेहनत की पूरी मज़दूरी मज़दूर को मिल जाती है तो मालिक के पास क्या बच रहता है ? उसे परोपकार से मतलब ?

उसी समय एक ठेकेदार साहिब का ख़याल आ गया, जिनकी बाबत मशहूर है कि वे एक समय पन्द्रह रुपये के मुंशी थे ; लेकिन अब दस लाख के आसामी हैं। खयाल आया—एक समय वे अपने करमों के फल से ग़रीबी का दुःख भोग रहे थे परन्तु अब उन्होंने मुनाफ़े के रूप में बहुत सा पुण्य संचय कर लिया है, इसलिये हज़ारों मज़दूरों का पेट भरते हैं और भगवान के नाम पर पुण्य-दान भी करते हैं।

* * *

मिल के गेट के सामने से गुज़रा तो उस पर लिखा था—"नौकरी की जगह ख़ाली नहीं है।" इसका मतलब हुआ कि बहुत से लोग मज़दूरी ढूंढने आते होंगे। इसका मतलब यह हुआ, बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की होगी जो कुछ मज़दूरी न पाकर भूखे मरते होंगे। यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि आदमी काम करने को तैयार हो तो उसे काम क्यों न मिले ? वह भूखा क्यों मरे ? पर किया क्या जाय ? माल की खपत नहीं होती।

माल की खपत क्यों नहीं होती ? यह लोग जो इतने बेकार हैं यह मज़दूरी न मिलने से कुछ ख़रीद नहीं पाते। खपत हो तो कैसे ?

और खपत होती क्यों नहीं ; जब इतने लोग भूखे-नंगे हैं तो इन लोगों की भूख मिटाने और पेट भरने को क्यों इन्हीं लोगों को मज़दूरी मेहनत करने नहीं दिया जाता। बहुत सोचने पर ख़याल आया, जब तक मुनाफे की गुंजाइश न हो काम कैसे चल सकता है।

इस सब का इलाज बताया जाता है समाजवाद। समाजवाद से अगर संसार के इतने दुःख दर्द का इलाज हो सके तो बुरा क्या है परन्तु समाजवाद मुझे पसन्द नहीं। कहते हैं समाजवाद में सब जायदाद छिन जायेगी। यह मुझे पसन्द नहीं कि मेरा एक मकान है वह भी मुझ से छिन जाय। लेकिन समाजवाद में सुनते हैं सब लोगों को उमर भर खाने को मिलेगा और रहने को घर !

हो सकता है। पर मुझे मज़दूर कहलाना गवारा नहीं। मैं मज़दूर को अपना भाई कह सकता हूँ परन्तु अपने आपको मज़दूर नहीं कह सकता। और फिर दिन भर टोकरी कौन ढोयेगा ?

लेकिन हिसाब लगाकर कहते हैं इस कला-कौशल के ज़माने में अगर दुनिया में कोई भी आदमी बेकार न रहे तो केवल डेढ़ घन्टा हर एक आदमी के मज़दूरी करने से ही संसार का पेट भर सकता है। यह भी ठीक हो सकता है। ख़याल भी बुरा नहीं। पर पहले कह चुका हूँ कि दुनिया की हरेक अच्छी चीज़ में मज़ा भी हो यह बात नहीं। समाजवाद यानी मज़दूरों किसानों का राज अच्छा हो सकता है पर मुझे मंजूर नहीं।

न्याय

अहाते के बायीं ओर की दीवार में नया दरवाज़ा लगाने के लिये पुराना दरवाज़ा निकाला जा रहा था। उस समय चौखटे के ऊपर वाले की गिलहरी के कोटर की याद आयी, उसके छोटे-छोटे बच्चों का क्या होगा ! किसी-किसी समय दिल में एक अजीब सी कमज़ोरी आ जाती है !

गिरती हुई मिट्टी और ईंटों के बवाल के बीच से एक छोटा सा बच्चा निकल कर सामने नीम के पेड़ पर दो हाथ चढ़ा और गिर पड़ा। दीवार पर बैठा हुआ कौवा लपका परन्तु मटरू मौक़े पर था। ताली बजा उसने कौवे को ललकार दिया।

बहुत बेचैनी की हालत में बच्चा इधर-उधर झपट रहा था। मेरे कहने से अंगोछा फेंक मटरू ने बच्चे को उठा नीम के तने पर रख दिया। दो हाथ चढ़ वह फिर गिर पड़ा। फिर उसे तने पर सहारे से रखा गया, पर वह सम्भल न सका। उसकी विषण्णता, उसकी बेचैनी देख मुझसे रहा न गया। उसे मैंने अपने हाथों में ले लिया। पुचकारा, दुलारा, परन्तु वह भय से मेरी उँगलियों के बीच से निकल-निकल कूद पड़ता था।

उसकी माँ का कहीं पता नहीं था। खुद बच्चा ऊपर चढ़ नहीं सकता था और दीवार पर कौवे बैठे थे। उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे रूमाल में लपेट लिया। सोचा—रोटी डाल दूंगा और वहीं इसे बैठा दूंगा। रोटी लेने उसकी माँ आयेगी तभी इसे भी ले जायगी मैंने पेड़ से या छत से गिलहरी के बच्चे गिर जाने पर उसकी माँ की बिकलता देखी है। वह छोटा सा तुच्छ जीव संतान के मोह में कैसे छटपटाता है ! उसे जिसने भी देखा है, वह गिलहरी के बच्चे की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता।

बाहर से फिर मटरू के ताली बजाकर ललकारने की आवाज़ आयी। उचक कर पूछा—क्या है !

दूसरा बच्चा जब दीवार गिरने के तलातम में निकल कर भागा, तब ताक में बैठे कौवे ने उसे झपट लिया परन्तु मटरू ने ज़ोर से ताली बजा कर शोर किया और मज़दूरों ने ढेले बरसाये कौवा सुध-बुध भूल गया, और बच्चा उसकी चोंच से छूट गया। मटरू ने उसे उठा मेरे हाथ में दे दिया।

सोचो तो, मौत—साक्षात मौत के मुँह से वह बचा था गरमी में प्यासे पक्षी की तरह अपना छोटा सा मुँह फैलाये वह बुरी तरह हाँफ रहा था। उसकी पतली सी पूँछ आधी कट गयी थी। मुझे वह अपना न समझ सका—शायद उसने सोचा कौवे के मुँह से छीनकर मैं उसे स्वयं निगल जाना चाहता हूँ। उँगलियों में से निकल वह कूद पड़ा। मेरा कलेजा मुँह को आ रहा था; झट से उसे उठा दूसरे बच्चे के साथ लपेट दिया। एक तौलिये में उन्हें लपेट रोटी के टुकड़े जंगले के आगे फैला मैं उनकी माँ की प्रतीक्षा करने लगा।

तीसरा बच्चा जो ऊपर चढ़ गया था नीम की शाख से पट्ट से गिरा—उसे शायद उसकी माँ ऊपर उठा ले गयी थी। एक कौवा साहस कर के ऊपर ही ऊपर से मण्डरा कर निकल गया। बच्चा इतने ऊँचे से गिरा था कि उसकी आँखें मुँद गयीं। लोगों ने कहा—मर गया,—दिल का क्या हाल होरहा था?

उसी समय इतने मनुष्यों की आहट और कोलाहल की भी परवाह न कर वह गिलहरी झपटी हुई आयी। गिलहरी का क्या कुछ चेहरा होता है? उस पर हाव-भाव, विकलता, आँखों में आँसू यह कुछ नहीं दीख सकता परन्तु उसकी व्यग्रता! वही हज़ार जिह्वा होकर सब कुछ कह रही थी। माँ का स्पर्श पाते ही बच्चा सजग हो गया। माँ किस पागलपन से उसके सम्पूर्ण शरीर को चाटने लगी; मानों वह उसे निगल जाना चाहती थी। चूमने में जो हम स्नेह की चरम व्यक्ति समझते हैं, वही तो!

माँ अपना पेट फाड़ बच्चे को ढाँप लेना चाहती थी। बच्चे को मुँह में दबा गिलहरी फिर नीम पर चढ़ी। मैं उसके साहस, उसकी जान-निसारी पर स्तब्ध रह गया। उस समय याद आ गया—मेरी भी तो माँ है,······।

परन्तु परमेश्वर का न्याय क्या यही है। उस बेचारी का मकान उजड़ गया, बच्चे रुल गये। वह नन्हीं सी जान! मैं पूछता हूँ—क्या न्याय यही है?

कौवे सामने की दीवार पर पंक्ति में बैठे थे। चोंच को दायें बायें घुमा,

ऊपर-नीचे कर वह अपना पेट भरने की फ़िकर में थे। तब मुझे ख़याल आया—अभी इनके मुँह का कौर छीन अपनी समझ में मैं बड़ी दया कर बैठा हूँ।

गिलहरी के प्रति मेरे कम उलाहने नहीं हैं। पिछले दिनों मटरों की क्यारी में अंकुर फूटते ही इन दुष्टों ने अपने पिछले पैरों पर बैठ एक-एक अंकुर चुन-चुन कर, गिन-गिन कर काट दिया। उड़न बिहार की (Linaria) की फूलों से लदी डालियाँ काट कर डाल दीं। गुल दाउदी (Crysenthimum) के टहकते हुए फूल जिनके बोझ से टहनियाँ गिरी पड़ती थीं इन्होंने सैकड़ों काट दिये। जहाँ कहीं कोई नरम कपड़े का टुकड़ा, रूमाल या कुछ और नीचे पड़ा पाया, अगले पंजों से उसे गोल-गोल समेट वह घोंसले में बिछाने के लिये ले चलीं। इनका ध्यान उधर से हटाने के लिये मैंने दाल, दलिया बिखराया, डबल रोटी इन्हें खिलायी। इन्होंने सब कुछ खाया और फिर भी फूल ख़राब किये।

परन्तु न जाने क्यों इनके प्रति मोह होता है। जब डबलरोटी जंगले के पास नहीं पातीं तब मुँह उठा ऐसे मांगती हैं कि रहा नहीं जाता। विवश मुख से प्यार के निरर्थक शब्द निकल पड़ते हैं—रोटी डाल देता हूँ।

फुलवाड़ी ही उजाड़ती हों, शेष जीव-जन्तु की यह हत्या न करती हों, सो भी बात नहीं, ! दीमक के बिल को खोद कर जब यह चुन-चुन कर कीड़े खाती हैं, तब क्या उसकी गिनती रह जाती है। परन्तु उन्हें मैं पुचकार कर चीनी लगा कर डबलरोटी खिलाता हूँ और कौवा जब उस रोटी पर झपटता है, तब उसे मिलता है—ढेला-पत्थर।

कौवे के ख़िलाफ़ केवल एक ही शिकायत है, वह एक दिन थोड़ा सा साबुन ले गया था। लेकिन यही मेरा न्याय है, शायद यही मेरी दया है? जो कुछ हो परन्तु परमेश्वर भी तो देखता है, वही क्या कुछ करता है? उसे न अपने बनाये इतने सुन्दर फूलों की फ़िकर है न दीमकों की, न गिलहरी की, न कौवों की और न मनुष्यों की ही—मुझे ही क्या इस मुसीबत में यों फँस जाना चाहिये था?

वह गिलहरी बड़ी ही व्याकुलता से इधर-उधर से मूंज, सन और च[illegible] बटोर रही थी, वह रोटी का टुकड़ा उठाने नहीं आयी, मैं दोनों जंगले के समीप रख रखवाली के लिये बैठा था।

Carducci का De Risorle बिलकुल न पढ़ सका--वह गया भाड़ में। पौने छः बजे मैं वैरिक में बन्द हो गया। मैं जंगले के पास ही बैठा था। वह गिलहरी नया घर बनाने की फ़िक्र में यों परेशान थी की बच्चों की फ़िक्र में इधर आ ही न पायी। बच्चों को रात भर के लिये जाली की डोली में बंद करने की सोच ही रहा था कि 'पट' से आवाज़ हुई। देखा, उसका तीसरा बच्चा ज़मीन पर गिर पड़ा और उसके साथ ही उसका अधबना घोंसला नीम की पत्तियों में उलझ कर लटकने लगा। सोचा, अब की बार ज़रूर मर गया। हाय! वह व्यग्र नन्ही सी जान फिर दौड़ती हुई चली आयी। उसके स्पर्शमात्र से बच्चा फिर चेतन हो गया। वह चाटना-चूमना, उस नन्हें से दिल से--शायद वह एक रत्ती भर का होगा, ममता का महानद उमड़ा पड़ रहा था। वह उसे फिर मुंह में दबाकर ले चली। बच्चे को डाल पर बैठा उसी समय फिर नये सिरे से घोंसला बनाने का उसने लग्गा लगाया। धैर्य और साहस की सीमा क्या कहीं इसके भी आगे है? उसकी वह नन्हीं सी जान और उसकी वह शक्ति! आश्चर्य का विषय कोई क्या और होगा? परन्तु परमात्मा! --वह कहाँ है और वह क्या कर रहा है?

अँधेरा होने लगा था। दोनों बच्चों को ज़रूर भूख लगी थी। आँख में दवाई डालने की नली से मैंने ज्यों त्यों दोनों को दूध पिलाया। वह दुमकटा बहुत घबराया हुआ था। दूध नहीं पीता था दूसरे ने तो कुछ पिया।

रात में गिलहरी को बच्चों से मिला देने का उपाय सोचा। नया घोंसला बनाने के लिये सन और मूंज की तलाश में वह ज़रूर दौड़ेगी, इसलिये उसके पुराने घोंसले की नरम नरम सन में दोनों बच्चों को लपेट धूप होने पर नीम की जड़ के पास रख दिया। गिलहरी बहुत तड़के से ही बावली सी इधर-उधर भाग दौड़ कर रही थी। सुबह बच्चों ने रात की अपेक्षा नली से कुछ अधिक दूध पिया और उनकी घबराहट भी उतनी नहीं रही थी। बल्कि वे मेरी अंजुली छोड़ जमीन पर बैठने में हिचक रहे थे।

माँ की सूरत देख······धूप खा बच्चे हाथ-हाथ भर ऊपर तने पर चढ़ गिलहरी कूद कर आयी······और फिर······सभी बड़े-बड़े कवियों ने वात्सल्य के चित्र खींचे हैं पर······इसके आगे सब हेच!

मुँह में एक बच्चे को दबा वह ले चली, परन्तु कहाँ······उस नीम पर नहीं। कोई तीस गज़ परे, बीच में एक पेड़ छोड़ दूसरे एक बड़े नीम पर। कल साँझ को जो उसका बच्चा टपक पड़ा था उसी से जितनी देर में नया घोंसला बनेगा उतनी देर बच्चे कहाँ रहेंगे ? फिर पल पल पर वर्षा······यही सब सोच-विचार कर कोई कोटर ढूँढ़ कर उसने बच्चे को टिका दिया है, ऐसा जान पड़ता है। दो-तीन मिनिट में वह फिर आयी, दूसरे बच्चे को ले गयी। बच्चों को सकुशल माँ की गोद में पहुँच जाने से ख़ुशी तो ज़रूर हुई परन्तु उनका साथ छूट जाने से कुछ वियोग-दुःख भी ज़रूर हुआ।

* * *

क्या !······मैं जानता हूँ······तुम यही तो कहोगी कि परमात्मा ने मेरे द्वारा उनकी रक्षा की ! ठीक मेरे द्वारा कौवे के मुख का कौर छीना और जब तीनों बच्चे जवान होकर हज़ार-हज़ार दीमकों की हत्या करेंगे, तब परमात्मा किसके द्वारा क्या करेगा ?

अस्तु, तुम बात सुनो—कुछ देर मेंह बरस कर थमा था। मैं ज़रा चहल क़दमी कर रहा था। जगह-जगह पानी खड़ा था वह गिलहरी फिर आयी ! उस सन का गोला पंजों से बाँध वह उठा कर चली। वह बोझ उसके लिये अधिक था और जगह-जगह ठहरा हुआ पानी—उसके लिये वह सब बड़े-बड़े तालाबों से क्या कम था ? रुक-रुक कर, हाँफ-हाँफ कर वह उस बड़े-बोझ को लिये जा रही थी। जीवन-संसार में क्या है ? एक निरंतर चिंता और कष्ट !

यह तो है गिलहरी की बात ! ज़मीन पर जहाँ-तहाँ पड़ा चारा दाना चुग लेने से उसका पेट भर सकता है और पेड़ की कोटर उसके लिये घर है। परन्तु हाय रे मनुष्य ! तेरे तो हर एक काम में हज़ार झंझट है और फिर तेरे सिर पर कौन मुसीबत नहीं ? आँधी-पानी है, आग और बाढ़ है, भूचाल है, उस पर चोर डाकू हैं, अत्याचारी की स्वेच्छाचारिता है और यह सब तुम्हारे दयामय परमेश्वर की इच्छा से, उसके न्याय से।

गरीब के भगवान्—

जगह-जगह पलस्तर छूट कर फ़र्श और दिवारों पर अद्भुत चित्रकारी होती चली जा रही है। यदि किसी प्रख्यात कलाकार ने मानसिक उलझन से राह ढूंढ़ते हुए, काग़ज़ पर ऐसी भूलभुलैया बना दी होती ; इस चित्रकारी की भावगम्भीरता पर मासिक पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित हो सकते, टिकट लगा कर इनका प्रदर्शन किया जा सकता। परन्तु मध्यवित्त श्रेणी के सदस्य होने का दावा करनेवाले, वास्तव में वित्तहीन, नागरिक के मकान में अद्भुत रूप-रेखा में उखड़ा हुआ पलस्तर केवल मच्छरों, खटमलों, मकड़ियों और छिप-कलियों की पैदाइश और बढ़ती की जगह है। उखड़ा फ़र्श घर भर को धूल से भर देता है। मकान मालिक किराये की उगाही में पाबन्द होने के बावजूद मकान की मरम्मत के मामले में बिलकुल अधीर नहीं है। बहुत सीधा-सा और रूखा-सा उत्तर है—'छोड़ न जाओ ! कौन एहसान कर रहे हो !'

वास्तविकता को देखते मानना पड़ेगा कि एहसान नहीं कर रहा हूँ। मकान में डटे रहना अन्याय ही जान पड़ता है। नये सिरे किराये पर चढ़े ऐसे मकानों के आसानी से पचीस और तीस रुपये मिल सकते हैं। हम पुराने किरायेदार होने के नाते भारत रक्षा विधान (D. I. R.) की छत्रछाया में १४) से एक पाई अधिक थमाने को तैयार नहीं। मकान मालिक के मुन्शी की आँखों में कुछ अदब है। रूखे उत्तर के बजाय तफ़सील देने की तकलीफ़ गवारा करते हैं—चूने की कीमत चौगुनी हो रही है। मज़दूर तिगुनी-चौगुनी दिहाड़ी मांगता है ; मालिक भी क्या करे !.........जेब से कोई कहाँ तक लगा दे ! मकान की लागत का सूद भी तो नहीं निकल रहा !

विवश होकर स्वयम् मरम्मत करा डालने का निश्चय किया। मज़दूर ने कहा—सवा रुपया दिहाड़ी ! सुनकर जैसे अचम्भा-सा हुआ, मज़ाक-सा जान ; परन्तु जब उसने पेट पर हाथ मार कर कहा, इसे भी तो किसी तरह नहीं ! तब लाचारी थी। तीन-चार दिन सोच कर मजबूर हुए कि

मुरम्मत कराना तो पड़ेगा ही ! फिर जैसा आज, वैसा कल। बल्कि हो सकता है, कल सवा से डेढ़ रुपया हो जाय !

मज़दूर को लगा लिया। संध्या समय दफ़्तर से लौट कर देखा, इस हिसाब से तो महीना-पन्द्रह दिन तक दिहाड़ी भरनी होगी। घरवाली ने शिकायत के स्वर में कहा—'मुआ दिन भर जब देखो कभी पानी पीने जा रहा है, कभी पेशाब के बहाने निकल गया। हाथ पैर ऐसे चलते हैं; जैसे जान ही नहीं ! हरामख़ोर है एक नम्बर का !'

मज़दूर से बहुत झगड़ा हुआ। उसकी हरामख़ोरी के बारे में सन्देह नहीं था। लेकिन लड़ झगड़ कर वह अपना सवा रुपया ले ही तो गया। न देते तो कहीं गँवार हाथ छोड़ बैठता, क्या ठिकाना ! और अपना दारोगा साहब के यहाँ उठना बैठना है नहीं, जो कुछ हौसला करते ! बेबसी थी !

दूसरा मज़दूर एतवार के दिन लाये और थोड़ी-थोड़ी देर बाद ललकारते रहे ! काम जितना चाहिये था उतना तो नहीं हुआ; परन्तु फ़िर भी घरवाली को दिखा कर कहा—'यह फ़रक होता है जब कोई देखनेवाला सिर पर हो !'

दूसरे दिन एतवार नहीं था। दफ़्तर जाना पड़ा ! दफ़्तर में हर समय घर हरामख़ोरी करते मज़दूर का ख़्याल बना रहा। दिन पर दिन रजिस्टरों में आँखें गड़ाये सिर यों ही चकरा जाता है तिस पर घर की उलझन ! काम कुछ हुआ नहीं। पांच बजे चपरासी दिन भर के काम की रिपोर्ट भरवाने लाया। जो कुछ किया था लिख दिया। मन में आशंका थी, हेडक्लर्क साहब कल दफ़्तर में आते ही टोकेंगे—'कहिये मिस्टर, यह दिनभर का काम है ?' और जब सालाना तरक्क़ी का मौका आयगा, रोज़ाना रिपोर्ट उल्टा कर दिखायेंगे ! साहब के सामने पेशी होने पर वे हरामखोर तो नहीं कहते; पर आँखों में आँखें गड़ा पूछते हैं—'अपना काम होता तो क्या दिन भर में इतना ही करते ?' और स्वयम् किये काम की ओर संकेत कर दिखा देंगे, करने से इतना काम हो सकता है।

साहब को मुनासिब जवाब देने का अरमान पूरा किया जाय तब, जब उनकी नौकरी के बिना पेट भर सके। उन्हें जवाब नहीं दिया जा सकता, मन में घुट-घुट कर ही रह जाता है। मन कहता है—तुम्हारी जगह होते तो उससे

भी ज़्यादा कर दिखाते ! तुम क्या पैंतालीस रुपये माहवार में गुज़ारा करते हो ? पैंतालिस सौ रुपये की तो तुम्हारी सवारी है । पैंतालिस तब देते हो, जब सौ की मेहनत करा लेते हो ! पाँच रुपया बढ़ाने का लोभ देते हो इस शर्त पर कि २०-२५ का काम और अधिक कर दिखायें। तनख़्वाह देते हो तो कौन एहसान करते हो ! पैसा देना चाहते हो मुश्किल से ज़िन्दा भर रह सकने लायक और काम चाहते हो शक्ति भर ! जैसे गाय के साथ किया जाता है। जितना हम कमा कर देंगे उतना थोड़े ही दे दोगे ? हमें दूह-दूह कर ही तो मोटे हो रहे हो बेटा ! और हमें ही आँख दिखाओ और हरामख़ोर बताओ। फिर ख़्याल आया कि गाय पाल कर उसे इसलिये तो कोई नहीं दुहता कि लौटकर उसे ही पिला दिया जाय ! सोच में गर्दन खुजा, भगवान के लिखे के आगे सिर झुकाये चला जा रहा था। फ़िक्र थी घर में लगे मज़दूर की जिससे अपना बहुत कुछ वही रिश्ता था, जो साहब का हम से है। घर पर आते ही घरवाली ने स्वर ऊँचा कर शिकायत की, देखा—'चोर कैसा हरामखोर निकला ! कल तुम सिर पर थे, कुछ किया भी और आज तो जैसे हाथों में मेंहदी रचा रखी है ! कल से आज बारह आने भी नहीं किया। अब कल पैसे देते वक्त ख़्याल रखना।'

ऊँट अभी ताज़ा-ताज़ा पहाड़ के नीचे से चला आ रहा था, इसलिये कुछ अधिक बोलने का उत्साह नहीं हुआ। कह दिया—'मरने दो हरामखोर साले को !'

जिस दिन दफ़्तर में दिन अच्छा नहीं कटता, घर लौट कर बच्चों और बीबी से परेशानी होती है, झगड़ा हो जाता है। इसलिये कुछ अलग-सा बैठा, थाली पर पुकारे जाने की प्रतीक्षा कर रहा था और मन में विचार उठ रहा था—समाज के यह सब आर्थिक सम्बन्ध छीना-झपटी और चोरी-डकैती नहीं तो क्या हैं ? मेहनत करनेवाला अपनी मेहनत का अधिक से अधिक मूल्य चाहता है और मेहनत करानेवाला कम से कम मूल्य देकर अधिक से अधिक परिणाम चाहता है।

ऐसी हालत में किसी दूसरे के लिये मेहनत क्यों करते ! अगर उसके ना गुज़ारा चल सकता। दिल तो चाहता है, यदि रकम पास होती तो कोई

रोज़गार कर लेते ! रकम यानी दूसरे की मेहनत खरीद सकने का साधन··· रोज़गार यानी दूसरे की मेहनत के परिणाम से कम मूल्य !···भला तो नहीं मालूम होता ; पर दुनिया में हो ही क्या रहा है······।'

'तरकारी तो बना रखी है। बनिये के यहाँ से रुपये का आटा ले लो तो झट से फुलके उतार दूँ !'—घरवाली ने सुनाया। इस थकावट पर यह सन्देश ! तबीयत और भी भन्ना गई पर कुछ बोला नहीं। विचारों में जो उलझा हुआ था।

एक रुपया और अंगोछा ले, गली से चला जा रहा था। पहले एक रुपये का आटा होता तो मज़दूर से उठवाकर लाते थे; पेट तो भरना ही है। सभी कुछ बेहद मंहगा हो रहा है ; पर क्यों ?

सब चीज़ें मंहगी हो जाने का कोई कारण समझ नहीं पाता। कहते हैं कम पैदा हुआ है या लड़ाई पर जा रहा है, बाज़ार में जितना चाहिये उससे कम है। मान लिया कम है पर इससे दाम बढ़ने की क्या सफ़ाई ! दाम तो लागत के हिसाब से होने चाहिये ! लागत को कौन पूछता है ! दाम होते हैं माँग के हिसाब से ! यानी हमें ज़रूरत है तो आप चाहे जितनी कीमत माँग सकते हैं। मुट्ठी भर आटे के लिये या एक गज़ कपड़े के लिये आप जितनी रकम चाहें हम से छीन लें। यह तो साहब मजबूर करना है, दबाना है और फिर अगर कोई आदमी गले में फंदा डाल कर या सीने पर छुरी रख किसी की गाँठ ढीली करवा लेता है तो उसमें ही क्या डाकाज़नी है ? अगर मुलम्मा की हुई चीज़ बाज़ार में सोने के दाम बेच देना चोरी है तो जो माल जितनी लागत और मेहनत से बना है, उससे ज़्यादा दाम वसूल लेना क्या चोरी नहीं ?

हम कहते हैं चीज़ों के दाम क्यों बढ़ाये जाँय ? देश में या बाज़ार में कोई चीज़ कम है तो सभी लोग हिस्से से थोड़ी-थोड़ी पायें ! पर यह हो जो नहीं पाता। जिनके पास रुपया अधिक है वे अधिक दाम देकर यथेष्ट ले लेना चाहते हैं। जब हमारा बच्चा दूध के बिना बीमार हो रहा है, वे खोया खाकर बीमार पड़ना चाहते हैं। हाँ ; जिनके पास और भी अधिक रुपया है, वे बाज़ार में कम पड़ती चीज़ को सबकी सब खरीद और भी मंहगा बेचते हैं और उनकी जेब में रुपया और भी अधिक बढ़ जाता है। इस तरह के कामों

से कम रुपयेवालों का संकट बढ़ाने की उनकी शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। मज़ा यह है कि जब भी कोई व्यक्ति सुखी होने की चिन्ता करता है तो यही सोचता है कि उसके पास रुपया बढ़ जाय यानी वह दूसरे को दुखी कर सकने लायक हो जाय। खूब रही ; हमारा सुख है तो दूसरों को दुखी कर सकने में।

हाँ, तो देश और बाज़ार में मौजूद सामान में सबके बराबर हिस्से की बात सोच रहा था। यह बात कुछ बेमतलब-सी ही है। हिस्सा निश्चय होना चाहिये। पैदावार के लिये की गई सब लोगों की मेहनत से ; पर वह होता है लोगों की जेब में मौजूद रुपये से। एक बात और ; रुपया अधिक कमाने का तरीका दम तोड़ कर मेहनत करना हो, सो मैं मान नहीं सकता। उसका तरीका है दूसरों की मेहनत का परिणाम हड़प कर लेने का उपाय कर लेना। उसके लिये पैसा होना चाहिये। पैसा पैसे को खींच सकता है तभी तो कहते हैं—'माया को माया मिले कर कर लम्बे हाथ!'

यह तो दिखाई देता ही है कि जिसके पास रुपया है वही अधिक रुपया कमा सकता है। ऐसे लोग हैं जिनके पास अपने जीवन भर की, अपनी सन्तान के जीवन भर की आवश्यकताओं के लिये रुपया है फिर भी वे रुपया कमाने की कोशिश करते हैं।

यह लोग रुपया इसलिये नहीं कमाते की ज़रूरतें पूरी करनी हैं ; बल्कि इसलिये कि रुपया यदि यह लोग नहीं कमायेंगे तो कोई दूसरा उसे समेट लेगा। सम्पूर्ण कारोबार और उद्योग धन्धे का अभिप्राय और परिणाम यह है कि समाज के रुपये को अधिक से अधिक समेटा जाय और उसे और अधिक रुपया समेटने के उपयोग में लाया जाय! आख़िर जो लोग लाख दो लाख रुपया महीना कमा रहे हैं, उन्हें इसकी ज़रूरत! सोने के कौर तो कोई खाता नहीं। बड़े से बड़ा ऐश भी आदमी करे, तो ख़र्च कर लेगा! पर यहाँ तो रुपया ख़र्च करने के लिये कमाया ही नहीं जाता, वह तो कमाई के साधन के रूप में कमाया जाता है, ताकि दूसरों के पास हमारी अपेक्षा कम रह जाय!

रुपया जो जनता के परिश्रम का, मेहनत का प्रतिनिधि है, उसे जनता अपने उपयोग में न आने दे कर यह लोग उसे क्यों समेटते जाते हैं?

दूसरे की वस्तु ले लेना चोरी है, तो दूसरे की मेहनत खसोटना क्या चोरी नहीं ? वस्तु भी तो मेहनत से ही बनती है ! मेहनत तो सभी करते हैं ; कम से कम मौका मिलने पर मेहनत कर रुपया सभी कमाना चाहते हैं। लेकिन ; जिनके पास रुपये हैं, वे मेहनत का पूरा दाम रुपये की सूरत में देते नहीं। सभी कारोबार तो उनके हाथ में हैं। कभी वे कहते हैं, कपड़ा मन्दा हो गया। कभी कहते हैं, गल्ला मन्दा हो गया। क्या हम समझें कि लोगों को कपड़े और गल्ले की ज़रूरत नहीं रही। मतलब तो यही है न, इनके बेचने से उन्हें काफ़ी मुनाफ़ा नहीं—इसलिये इन चीज़ों की बाज़ार में जरूरत नहीं। दुनिया मरती है तो उनकी बला से ! और भैया; ऐसे ही लोगों के हाथ ताक़त है। सरकार भी उन्हीं के हाथ में है। यह लोग मालिक हैं और सरकार मालिकों की मलका ! नहीं तो इस कहत के ज़माने में, आज भी जिन लोगों के यहाँ खत्तियाँ भरी हैं उन्हें कोई पूछनेवाला क्यों नहीं ? मैं पूछता हूँ क्या इस खत्ती को वे अपने पेट में डाल लेंगे ? पर उपाय हो तो क्या ? उपाय की ज़रूरत है ग़रीबों को। जो भी अपने दुख का उपाय करना चाहता है, ग़रीब नहीं रहने का ही यत्न करता है। पर ग़रीब तो दुनिया में रहेंगे ही यानी जब तक लोगों की मेहनत छीन कर अमीर बनना जायज़ रहेगा, ऐसा करने का साधन रहेगा, तब तक अधिक लोगों को ग़रीब ही बनना पड़ेगा ! फिर मज़ा यह है कि लोग अमीरों की इस चोरी को भगवान की इच्छा और न्याय कहते हैं।

भगवान ताक़तवर हैं, मालिक हैं, ; इसलिये वे तो मालिकों की सी कहेंगे ही। ग़रीब को भी एक भगवान ढूँढ़ना होगा। वह कहाँ मिलेगा ? शायद अपने जैसे दूसरे ग़रीब में ही ! उसकी ही सहायता पर वह भरोसा कर सकता है।

नया वर्ष आ गया। उसके लिये एक उत्साह भी दिखाई देता है। परन्तु जब गत वर्ष जा रहा था मन में विचार उठता था, यदि यही वर्ष बना रहे तो अच्छा हो! बीते वर्ष के साथ सुख दुख के कितने ही सम्बन्ध जुड़ गये थे उससे एक सम्पर्क और मोह हो गया था। पर वह वर्ष बीतता कैसे नहीं? एक के बाद एक जब हज़ारों लाखों, करोड़ों वर्ष बीत गये तो यह वर्ष कैसे टिका रह सकता था, क्षोभ का एक साँस लिया और तर्क ने सुझाया, समय कभी स्थिर नहीं रह सकता, गति ही धर्म है, गति ही जीवन है।

मनुष्य की परम्परा के संचित अनुभव से कितनी ही बातें जानने को मिलती हैं। मनुष्य समाज के इस संचित अनुभव में प्रत्येक पीढ़ी का अनुभवों की स्मृति और इनसे निकाले गये परिणाम ही मनुष्य समाज का ज्ञान है। जीवन की भाँति 'मनुष्य के ज्ञान का धर्म भी गति और विकास है। और उस ज्ञान का कलेवर है समाज का साहित्य। यदि मनुष्य के जीवन और उसके ज्ञान का धर्म गति और विकास है तो उसका साहित्य भी इस धर्म और लक्षण से मुक्त नहीं हो सकता। समाज अपनी अवस्था और उद्देश्य के प्रति जितना चेतन और चिन्ताशील होगा उसी मात्रा और अनुपात से उसके साहित्य में गति और विकास की अनुभूति प्रकट होगी।

हमारे साहित्य (हिन्दी उर्दू) में आज प्रगति की पुकार सुनाई देती है परन्तु उसका विरोध भी है। प्रगति के विरोध का विचार मुझे कुछ अप्राकृतिक सी बात जान पड़ती है। ठीक वैसे ही जैसे गत वर्ष की विदाई के क्षणों में इच्छा हुई थी 'यही वर्ष बना रहे तो अच्छा हो!' या कोई बालक चाहे कि उसकी आयु न बढ़े! कोई चाहे कि समय की गति रुक जाये। गति समय का धर्म है तो समय से बना जीवन कैसे गतिहीन हो सकता है? क्या समय और जीवन को अलग किया जा सकता है। उदाहरण से यों समझिये नदी का गुण

है कि उसमें सदा प्रवाह रहता है। जो नाव नदी की धार में है उसे बहना ही पड़ेगा। यदि नाव नदी के प्रवाह के विरुद्ध जाने का यत्न करे, तो अधिकांश में प्रवाह की लहरें उसके ऊपर गुज़रने का यत्न करेंगी और नाव डूब जा सकती है। वैसे ही समय के प्रवाह में हमारे जीवन की नैया है।

यह उपमा पूर्ण नहीं क्यों कि नावें बहाव से हटकर प्रायः खड़ी भी रहती हैं! काश्मीर में तो लोग नाव (House Boat) में घर बना कर रहते हैं। ठीक है, परन्तु नाव स्थिर रखने के लिये उसे प्रवाह से हटाकर या तो किनारे लगा लेना होता है या उसे किसी तालाब या पोखर में रखना पड़ता है। समय की नदी और जीवन की नाव की इस उपमा के साथ दूसरा प्रश्न भी जुड़ा है? क्या हम अपने जीवन की नाव को स्थिर कर देना चाहते हैं?...क्या हम जीवन की पूर्णता की मंजिल पर पहुँच गये हैं?...क्या हम समय को भी स्थिर जल के तालाब की भाँति समझ सकते हैं। यदि समय गतिहीन तालाब नहीं, और यदि हम जीवन के पूर्णता की मंजिल पर पहुँच नही गये तो प्रवाह से हटकर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की नाव को किनारे कैसे लगाया जा सकता है?

जीवन में गति का मोह ही लक्ष्य नहीं है। यदि जीवन में केवल गति ही लक्ष्य हो, तो आँखें मूँद कर जीवन की नाव को समय के तेज प्रवाह में छोड़ देने की वृत्ति होनी चाहिये। ऐसा मनुष्य ने कभी नहीं किया। वह ऐसा कर नहीं रहा है। और करेगा भी नहीं, क्योंकि वह चिंताशील है। चिन्ताशीलता और विचार में ही उसका मनुष्यत्व है। चिन्ताशील और विचारपूर्ण भाव से उद्योग के पतवार चला जीवन के विकास की ओर जाना ही मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयत्नों का लक्ष्य और उद्देश्य है। व्यक्ति और समाज की चिन्ता और विचार की प्रक्रिया का स्थूल और संचित रूप ही साहित्य है। समाज के साहित्य में यदि सचेत गति और प्रगति का संकेत लक्षित न हो तो यह हमारी व्यक्तिगत और सामाजिक जड़ता का प्रमाण होगा।

यदि हम अचेत गति में विश्वास नहीं रखते यदि मनुष्यता के नाते हमें समय के प्रवाह में जीवन नौका की गति-विधि को विचार और चेतना से

निश्चय करना है तो आज के युग में नाव में विज्ञान का मोटर लगा कर हम प्रवाह के विरुद्ध जाने का भी निश्चय कर सकते हैं। प्रवाह की दिशा से अधिक महत्वपूर्ण हमारे लिए हो जाता है, हमारा इष्ट और लक्ष्य ! यदि हम अपनी मंजिल की बन्दरगाह लाँघकर प्रवाह के साथ बहते हुए गंगासागर या सिन्ध की खाड़ी में गिरने जा रहे हैं तो कोई वजह नहीं कि लौटने का यत्न न किया जाय !

इसी तर्क के आधार पर हमें स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे समाज में साहित्य की आधुनिक प्रगति के विरोध की प्रवृत्ति जड़ता नहीं पीछे लौट चलने की सचेत भावना है। हमारे सामाजिक जीवन की उस मंजिल की ओर लौट चलने की भावना है जिसमें रम्य नदी तट पर ऋषि आश्रम में तपस्विनी बाला हिरणों के साथ किल्लोल किया करती थीं और तपोधनी महाज्ञानी यज्ञ से उठते पुनीत धूम से सुवासित वातावरण में अगम को जानने के लिए समाधि लगाये रहते थे। जिस समय चार घोड़ों से खींचे जाते स्वर्ण रथ पर चढ़ कर महाराज कामिनी को अंक में ग्रहण कर मृग का शिकार करते थे और ज्ञानधनी ऋषियों को स्वर्ण से मढ़े सींगों वाली हज़ार-हज़ार गौओं और दास दासियों का दान देते थे, जब हमारे पूर्वजों के धनुष की टंकोर से दिशायें थर्रा उठती थीं।

जिस मंजिल से हम गुजर आये हैं, साहित्य के पर्दे पर उसका यह चित्र अत्यन्त सुहावना जान पड़ता है। चित्र की झलक और वास्तविकताओं में अन्तर रह जाता है। सिनेमा के पर्दे पर सूर्य की किरणों में नाचती तालाब की लहरियाँ, कमल, किनारे पर फुदकते पक्षी और भ्रमर सब अत्यन्त सुन्दर ज़ान पड़ते हैं। परन्तु किनारे का वह दलदल जिसमें फँसकर निकलना दुश्कर हो जाता है दल दल में छिपी जोंकें और तड़पा देने वाले मच्छरों के डंक चित्र में दिखाई नहीं देते ! और फिर कौन कह सकता है हमारे पूर्वज दान देने और लेने वाले महाराज और ऋषिवर थे या दान में दे दिए जाने वाले द्विपद पशु जो भाग्यशाली शासक वर्ग की पालकी उठाकर चलते थे ? और यदि वह स्वर्ण युग आज फिर लौट आये तो पालकी हमारे ऊपर होगी या हम की पर होंगे। पालकी आरूढ़ हो सकने की सम्भावना और पालकी

ढोने की आशंका दोनों में से कोई भी हमें स्वीकार नहीं क्योंकि मनुष्यों में मनुष्य बन कर रहना ही हमारी महत्वाकांक्षा है। और वह कौन मनुष्य है जो शेष मनुष्यों से कुछ अधिक बन जाना या मनुष्य से कुछ नीचे रह जाना चाहेगा ! कितना ही सुहावना चित्र हमारे सम्मुख उस मंजिल का आप पेश करें परन्तु मनुष्य की नस्ल में ही भोक्ता और भोग्य का अंतर हमें स्वीकार नहीं।

और यदि कहो कि वर्तमान युग की सभी सुविधाओं को लेकर प्राचीन की भावना का पोषण किया जाय तो वह सम्भव नहीं दीखता। मनुष्य का जीवन उसके साधनों का परिणाम है और उसकी अनुभूति, भावनाएँ और विचार उसके जीवन के क्रम से पृथक नहीं हो सकते। मनुष्य के साधनों और मनुष्य की मनुष्यता में अन्योन्याश्रय (अण्डे से मुर्गा और मुर्गा से अण्डे) का सम्बन्ध है। विचार की उसकी शक्ति उसे साधन उत्पन्न करने और साधनों का विकास करने की क्षमता देती है और उसके विकसित साधन उसे अधिक विचार कर सकने की, उचित अनुचित और न्याय अन्याय के विवेचन का अवसर देती है।

मनुष्यत्व है क्या ! शास्त्र कहता है—धर्मोहितेषां अधिको विशेषो' मनुष्यत्व 'धर्म' में है जो पशु में नहीं होता। परन्तु वह 'धर्म' क्या है मुझे मनुष्य और पशु में केवल एक ही भेद दिखाई देता है और वह है साधन सम्पन्न और साधनहीन होने का। यह साधन ही 'धर्म' है। इस धर्म (साधन) के बल से ही मनुष्य प्रकृति में आत्म निर्भर, स्वतन्त्र और कर्मयोनि का अधिकारी है क्योंकि मनुष्य प्रकृति में अपने जीवन के लिये आवश्यक पदार्थ और परिस्थितियां स्वयम् उत्पन्न कर सकता है पशु ऐसा नहीं कर सकता। मनुष्य के साधनों का विकास ही उसके मनुष्यत्व का विकास है। विकास की इस मंजिल से पीछे हटने के लिये हम तैयार नहीं, कौन मनुष्य है जो तैयार होगा !

यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी सामाजिक स्थिति की वर्तमान मंजिल में सभी कुछ सत्यम्-शिवम् (सुन्दर और संतोष जनक) है। ऐसा नहीं है इसीलिए मनुष्य समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्ति मौजूदा समाज में अव्यवस्था के रूप में बन गये बन्धनों को दूर कर प्रगति और नयी व्यवस्था की मांग कर रही है। अपेक्षाकृत जागरूक हो जाने के कारण मनुष्य समाज के विकास की

यह प्रवृत्ति अचेतन नहीं सचेत है और उसकी स्थिति की वृत्तियों का उद्बोवन कर रही है।

जिसे एक दिन अपनाकर हमने अपना पोषण और विकास किया है उसके प्रति श्रद्धा और अनुराग स्वाभाविक है। यह बात स्थूल पदार्थों के लिये ही नहीं, भावना और संस्कारों के लिये भी सत्य है परन्तु चिड़िया का बच्चा फुदक सके और उड़ सके इसके लिए आवश्यक है कि उसकी रक्षा करने वाले अण्डे का छिलका टूट जाय। जिस झिल्ली में लिपटा रह कर शिशु गर्भ में रक्षा पाता है और जिस नाड़ से वह गर्भ में पोषित होता है, जन्म के पश्चात् उस झिल्ली और नाड़ का मोह छोड़ना ही पड़ता है। और जिस पौष्टिक पकवान से शरीर ने रस ग्रहण कर लिया है, उसका उपयोग हो जाने के बाद उससे निवृत्ति लेनी ही पड़ती है। फिर हमारे समाज के विकास में समय विशेष और समाज की अवस्था विशेष में अपनाई नीति और संस्कृति के लिये इस नियम की उपेक्षा कैसे की जा सकती है?

मनुष्य समाज की भावनाओं, अनुभूति और संस्कृति के समुच्चय साहित्य के विषय में विकास और प्रगति का यह नियम आज अपवाद कैसे हो सकता है? साहित्य के विषय में यह नियम इतिहास के किस युग में अपवाद बन पाया था जो आज ऐसा हो सके? वेदों के उद्गायक अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से लेकर प्रेमचन्द तक किस साहित्यिक ने समय और परिस्थितियों की उपेक्षा की है? किस साहित्यिक ने समय से प्रभावित होकर समय को प्रभावित करने का यत्न नहीं किया। यदि व्यास और कालिदास, कालिदास और चन्दबरदाई, चन्दबरदाई और तुलसी, तुलसी और भारतेन्दु और फिर प्रेमचन्द में भाषा समस्या और पात्रों में परिवर्तन है तो आज का साहित्यक क्या करे?

बदलते वर्ष के साथ समय की वह उपेक्षा कैसे करे? न चाहने पर भी पुराना वर्ष जायगा ही, नया आयगा ही और नया समय नयापन लेकर......।

कल्लू आठ बरस की जेल काट रहा है। जिस दिन उसे अदालत ने आठ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया था, उसका हृदय विद्रोह की अग्नि से जल उठा। मन में और मुख से गालियाँ दे अपमान की जितनी चोट वह अपनी कल्पना में अदालत को पहुँचा सकता था प्रतिहिंसा में उसने पहुँचाई और फिर विवश हो जेल की दुश्पाच्य दाल रोटी को चूना मिली पत्ती की तम्बाकू की फाँकी से हज़्म करता हुआ सज़ा के दिन पूरे करने लगा।

जेल में सज़ा की मशक्कत वह उतनी ही करता है जितनी के लिये लाचार है। वह कल्पना में सोचता है, जब वह इस बार जेल से छूट कर जायगा, इस ढंग से चलेगा कि फिर पकड़ा न जाय। इस दफ़ भी वह केवल पुलिस की बेइमानी और अदालत के पक्षपात के कारण सजा पा गया सुबूत उसके विरुद्ध था नहीं।

उसके सम्मुख यह प्रश्न नहीं कि उसने क्या किया। उसे पहले एक बार चोरी के अपराध में सजा मिली थी। पुलिस ने दूसरी बार फिर उसका चालान चोरी के अपराध में कर दिया और अदालत ने उसे चोरी का अभ्यस्त अपराधी समझ कड़ा दण्ड दिया। चोरी के इलज़ाम को कल्लू स्वीकार नहीं करता। परन्तु अपने मन में वह जानता है कि अपने गाँव के रामाधार अहीर का बैल रात में खोलकर दूसरी तहसील में बेचने के लिये ले जा रहा था। जब उसने पुलिस के सन्देह की आशंका देखी वह बैल छोड़ सरक गया। परन्तु फिर भी पुलिस ने उसका और लावारिस बैल का सम्बन्ध जोड़ चोरी के अपराध में इसका चालान कर दिया।

अहीर का बैल खोलकर वह इसलिये नहीं ले गया कि उसे अहीर से द्वेश था और वह अहीर को हानि पहुँचाना चाहता था। मगसिर का महीना लग गया था। उसके यहाँ पिछली फसल में जो कुछ हुआ था वह चुकने को आ गया और चिल्ला जाड़ा पड़ने से पूर्व रजाई की आवश्यकता थी। इन चीज़ों की ज़रूरत किसे नहीं होती ! सभी को होती है और अपने-अपने

रिज़्क के ढंग से सभी इन चीज़ों को कमाते या लाते हैं। गाँव के जमींदार राजा आदमी हैं। उनके यहाँ भगवान का दिया सब कुछ है। चार गाँव जमीन है। किसान जोतते हैं और अपनी पैदावार से उनका लगान देते हैं। कल्लू आठ बीघे जमीन जोतता है और आठ रुपया फसल के जमींदार के खजाने में जमा करता है। हज़ारों रुपया जमा होता है। उनके यहाँ रुपया रहता है। जहाँ रुपया है, वहाँ सब कुछ है। बन्देसाह से फसल पर गल्ला ख़रीद शहर ले जाते हैं। शहर से कपड़ा, नमक, तेल, गुड़ लाकर गाँव में बेचते हैं। इस हेरा फेरी में उन्होंने पक्की हवेली खड़ी कर ली। थानेदार साहब घोड़े पर गाँव-गाँव फिरते हैं। उन्हें तनखाह सरकार देती है और फिर जो कोई कुछ कर बैठता है या किसी तरह का काम पड़ जाता है तो उन्हें खुश करना ही पड़ता है। वकील साहब भी जब किसी का मामला अदालत में लड़ते हैं रुपया पाते हैं और रुपये से सब काम चलता है। किसी चीज़ की कुछ फिक्र किसी को करने की जरूरत नहीं केवल एक रुपया चाहिये।

कल्लू को भी अहीर के बैल की जरूरत नहीं थी वह बैल रुपया बनाने के लिये ही ले जारहा था। रुपया चाहिये था उन्हीं ज़रूरतों को पूरा करने के लिये जिन्हें सब पूरा करते हैं। जैसे दूसरे लोगों के रुपया पा सकने के अपने-अपने ढंग हैं वैसे ही कल्लू का भी एक ढंग है। रामरतन की बछिया खोलकर वह अहमदपुर जा दस रुपये में दे आया। मिर्जा की बकरी वह ६ रुपये में बेच आया। उसकी जरूरतें पूरी हुई हैं। पिछली बेर मेले में बजाज के यहाँ से धोती जोड़ा उठाने में फँस गया था वैसे ही अब की बैल के मामले में फँस गया।

दूसरे लोगों को अपनी जरूरत पूरी करने पर पुलिस कुछ नहीं कहती, कल्लू बेचारे को पकड़ लेती हैं। उस पर चोरी का इलज़ाम लगाकर चालान कर दिया जाता है। कल्लू कहता है यदि सुबूत से वह चोर साबित हो जाय तो बेशक उसका सिर मार दिया जाय और अगर सुबूत न हो तो उसे सज़ा होना जुल्म है। उसका अभिप्राय है, सुबूत में फंसे बिने यदि वह अपना काम बना ले तो किसी का क्या? वह दाँव है। यदि उसका दाँव पट्ट पड़ जाय तो दूसरी बात।

कल्लू दार्शनिक नहीं, नीतिज्ञ नहीं, वह मौलिकता का दावा भी नहीं कर सकता। वह जो संसार में अपने चारों ओर देखता है अपनी समझ के अनुसार उसे समझता है। उसे संसार में सब ओर दांव-ही-दांव दिखाई देता है। दांव का पट्ट और चित्त पड़ना भाग्य की बात है। ज़मीन्दार राजा चार गाँव के मालिक बाप के घर पैदा हुये यह भाग्य का दांव नहीं तो क्या है ? और फिर नये काश्तकार आजाने पर वे जमीन का लगान बढ़ा पाते हैं, यह दांव की बात नहीं तो क्या है ! जिसे जमीन की ज़रूरत है वह झक मारकर उन्हें मुंह माँगा लगान देगा।

बन्देसाह तीन रुपया मन भरते हैं और जब अपना अनाज समाप्त होजाने पर कल्लू लाला को स्वयम ही बेचा अनाज उधार खरीदने जाता है तो लाला छः रुपया मन के हिसाब से अगूंठा लगवा लेते हैं। यह दांव है कि नहीं। जब वह या उस जैसा दूसरा कोई अदालत में फंस जाता है तब वकील बाबू रुपये गिनवाये बिना जज के सामने नहीं जाते और जब गोड़ में फावड़ा लगगया था, लुटिया बेचकर डाक्टर बाबू के सामने दो रुपया रखे बिना उन्होंने दवाई देने से इनकार कर दिया। यह दांव है या नहीं ?

अब वह सेन्ट्रल जेल में बन्द है। तीस लाख रुपये की इमारत सरकार ने लोहे और पक्की ईंटों की उसे और उस जैसों को बन्द रखने के लिये ही बनवाई है। वह ताले में बन्द रहता है। उसकी पिंजरानुमा बारिक के बाहर ऊँची दीवार है। दीवार के अन्दर पहरा है, दीवार के बाहर पहरा है। मतलब यह कि वह भाग न जाय। अर्थात् उसका दांव लगेगा तो वह भाग जायगा। सरकार ने उसका दांव न लगने देने का पूरा प्रबंध कर लिया है। सरकार स्वीकार करती है, ज़ाहिर करती है कि उसकी और सरकार की दांव की लड़ाई है। ऐसी अवस्था में यदि उसका दांव लग जाय तो ?

परन्तु उसका दांव लगजाने पर वह और दण्ड पायेगा। लेकिन सरकार का दाँव बरसों उसकी आयुभर सफल होता रहने से वह प्रशंसा की पात्र है। इसे कल्लू अपना भाग्य और निर्बलता के अतिरिक्त और क्या समझ सकता है !

जेल से बाहर पुलिस थी। पुलिस डण्डा, गोली-बन्दूक और हथकड़ी ले तैयार थी कि कल्लू या कल्लू जैसे दूसरे आदमी दांव लगाने का यत्न करें तो

दबोच लिये जांय। पुलिस का यों तैनात रहना इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार के आततायियों से देश भरा है। निसन्देह ऐसे आततायी सैंकड़ों नहीं हज़ारों हैं। उनकी संख्या लाखों तक पहुँच सकती है। दांव लगाकर समाज के शरीर को नोच खाने के लिये चोट करने वालों को समाज का शत्रु नहीं तो और क्या कहा जा सकता है?

समाज का शत्रु कौन है? जो समाज को हानि पहुँचाये समाज को कष्ट दे। समाज की हानि और लाभ क्या है। यह एक अंश तक हानि लाभ का निर्णय करने वाली शक्ति के विचार और अपने हित पर निर्भर करता है। बन्देसाह जिस प्रकार हवेलियाँ खड़ी कर सके, उस ढंग को इस महायुद्ध से पूर्व इस देश की शासन शक्ति ने कभी बुरा नहीं बताया। व्यापारिक कौशल इसी बात में रहा कि सस्ते से सस्ता खरीद कर महंगे से महंगा बेचा जाय। आज युद्ध काल में जब इस ढंग का परिणाम चरम सीमा पर पहुँच गया तो वह समाज, देश और सरकार के प्रति अन्याय जंचने लगा।

समाज के हानि लाभ की दृष्टि छोड़ यदि केवल नैतिक दृष्टि से देखा जाय तो कल्लू के काम और बन्देसाह के ढंग, वकील साहब, डाक्टर साहब किसी में कुछ अंतर नहीं दिखाई देता। प्रत्येक अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करने के लिये रूपये के रूप में साधन बटोरता है। उसके प्रकट उपाय भिन्न-भिन्न हैं। या इन उपायों की स्वीकृति में अंतर है। कोई व्यापारी, वकील, डाक्टर अपना पेशा जन हित के लिये नहीं करता। यह सब अनेक प्रकार के दाँव हैं। जिससे परिस्थिति विशेष में दूसरों को अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये विवश किया जा सकता है। कल्लू और उस जैसों का उपाय हमारे वर्तमान समाज में शक्ति व्यवस्था की दृष्टि से हेय समझा जाता है।

हमारे समाज में कल्लू और उस जैसों का दाँव हेय समझा जाने पर भी वह त्रिकाल में सदा से हेय रहा हो सो बात नहीं। अफरीदियों के इलाके में लूट और डकैती आज भी उतना ही जायज़ पेशा है। जितना कि हमारे समाज में मरनासन्न रोगी के सम्बन्धी से फीस पाये बिना उसका इलाज करने से इनकार कर देना या किसी बजाज का सर्दी से मरते व्यक्ति को बिना दाम कपड़ा देने से इनकार कर देना।

व्यक्ति गत उद्देश्य से जब हम कल्लू और उस जैसे समाज के शत्रुओं और समाज के सम्मानित पेशेवर लोगों में अन्तर नहीं पाते तो समाज के इन शत्रुओं का दुर्भाग्य केवल उनके दाँव की कमजोरी में ही दिखाई देता है।

प्रश्न है कि ऐसे लोगों की सामाजिक शत्रुता का कारण क्या है ? समाज को हानि और कष्ट पहुँचाने के उद्देश्य से वे जोखिम झेलने जाते हों सो बात नहीं। यथार्थ है कि वे जीवन की उन सब सुविधाओं और अवसरों के लिये बेढंगे प्रयत्न करते हैं जिनके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते। जीवन की इन आवश्यकताओं और अवसरों के बिना उनका जीवित न रह सकना उनका अपराध नहीं समझा जा सकता। उनका अपराध है बेढंगे उपायों का अवलम्बन और इन उपायों के अवलम्बन का कारण है उनकी उपायहीनता या समाज का शत्रु बनने के लिये उनकी मजबूरी।

समाज के इन शत्रुओं के अपने जीवन की रक्षा के उपाय यदि समाज को ठेस पहुंचाते हैं तो इसका अर्थ यह है कि समाज रूपी रेलगाड़ी के डिब्बों में जीवन निर्वाह के उपायों के रूप में बैठने का स्थान कम है। पहले आकर या किसी तरह से रिजर्व कराकर जिन जिन लोगों ने बैठने का स्थान पा लिया है, समाज के यह शत्रु स्थान न होने पर भी गाड़ी में घुस उन्हें ठेलते और कष्ट पहुँचाते हैं। इस थोड़ी उपमा को नैतिक और दार्शनिक भाषा में कहा जाता है 'जीवन संघर्ष है—जीवन है संग्राम बन्दे, जीवन है संग्राम।'

यदि जीवन संग्राम और संघर्ष ही है तो फिर जितना अधिकार हमें अपने लिये स्थान घेरने का प्रयत्न करने का है उतना ही कल्लू और उस जैसे व्यक्तियों को है। हम उन्हें समाज का शत्रु कहते हैं। उनमें संस्कारों का इतना गर्व नहीं कि स्थान रिज़र्व रखने वालों को समाज का शत्रु कह सकें, वे अपने आपको पीड़ित और अभागा कहकर केवल दाँव लगाने का अधिकार माँगते हैं।

समाज के सुखी और सम्पन्न अंश को समाज का हित चिन्तक और समाज के साधनहीन अंश को समाज का शत्रु मान लेना हमारे समाज की आज दिन स्वीकृत व्यवस्था के अनुसार तो ठीक है परन्तु इस व्यवस्था को प्राकृ-

तिक नियमों के अनुसार सर्वकाल के लिये सत्य नहीं माना जा सकता। इस युद्धकाल के अनुभव से हमारी सरकार ने गल्ले, दूध तथा जीवन के लिये दूसरी नितान्त उपयोगी वस्तुओं के व्यापार या वितरण को व्यवसायी के निर्णय पर उसके मुनाफ़े की कसौटी पर क्यों नहीं चलने दिया? इसलिये कि आज दिन की कठिन परिस्थिति में उस व्यवस्था की असंगति स्पष्ट हो गई। वह व्यवस्था मनुष्य समाज की रक्षा का मार्ग न हो उसके विनाश का मार्ग जान पड़ने लगी और उसी मार्ग (मुनाफ़ा खोरी) पर अड़े रहने वालों को समाज का शत्रु करार दिया गया। हमें यह स्वीकार करना पड़ा कि व्यवस्था का उद्देश्य समाज की रक्षा या सर्वजन की रक्षा है।

कल्लू जैसे और समाज के शत्रु कहलाने वाले प्राकृतिक रूप से, साँप बिच्छू, प्लेग और हैज़े के कीड़ों की भाँति मनुष्य समाज के शत्रु नहीं है। वे समाज के शत्रु उसी रूप में हैं जिस रूप में सस्ते मूल्य पर खरीद करने की इच्छा करने वाला गाहक मंहगा बेचने की इच्छा रखने वाले व्यापारी का शत्रु है या स्टेशन पर बहुत भीड़ की अवस्था में स्थान के लिये परस्पर झगड़ने वाले मुसाफ़िर। इस शत्रुता का कारण केवल आत्मरक्षा और परस्पर हितों के विरोध की भावना है।

समाज में इस प्रकार प्रकट होने वाले विरोधों का उपाय हम सुधारों और व्यवस्था के परिवर्तन की छोटी मोटी थेगलियाँ समाज की चादर में लगाकर करना चाहते हैं। कारण यह कि हमारा दृष्टिकोण अब भी संस्कारों और श्रेणियों के अधिकार और हित के विचार से प्रभावित है। यदि हम मानवता के आधार पर शुद्ध तर्क करें तो व्यवस्था का केवल एक आधार दीखता है—प्रत्येक मनुष्य को विकास और आत्मरक्षा का समान अवसर हो और प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम का पूरा फल पाने का अधिकार और अवसर हो। केवल इसी आधार पर समाज के सब लोग अजात शत्रु हो सकते हैं।

चोरी मत कर

उपनिषद में लिखा है—'मागृधः कस्यस्विद्धनम'—किसी का धन लेने का यत्न मत करो। इतनी अमूल्य बात हमारे ऋषि हमें उत्तराधिकार में दे गये, इस बात का हमें अभिमान है। यह बात सोचकर अभिमान से मेरा सिर ऊँचा हो गया। पर उसी समय ख़याल आया उन नुक्ताचीन लोगों का, जो हर बात में पख निकाल सकते हैं।

जानते हो वे क्या कहेंगे ?—वे कहेंगे ऐसी अमूल्य बात तो दुनिया भर के सभी धर्म-ग्रन्थों में लिखी मिलेगी और यदि 'कल्लू-धुनहे' और 'जगन-मोची' भी—जिनके वंश में जहाँ तक इतिहास की पहुँच है कभी किसी ने काला अक्षर नहीं पढ़ा—इस बारे में यही राय देंगे।

किसी के धन को यदि कोई न ले तो इस संसार के सब संकट दूर हो जायँ। संसार से झगड़े-झंझट दूर हो जायँ, कचहरी, हाईकोर्ट, पुलिस, जेल न रहें और फौजें न रहें। संसार को जंगी जहाज़ और बड़ी-बड़ी तोपें न बनानी पड़ें और शायद दुनिया के तीन चौथाई काम ही बन्द हो जायँ।

किसी के धन को कोई न ले! संसार की शांति के इस सूक्ष्म और महा मंत्र को कौन नहीं जानता ? संसार के प्रकाण्ड महा विद्वान से लेकर नर-पशु तक सब इस सत्य को जानते हैं परन्तु उनका यह सत्य-ज्ञान व्यर्थ है। संसार अब भी छीना-झपटी और मार-काट में तबाह हो रहा है।

*　　　*　　　*

सूर्योदय की प्रथम लाली क्षितिज पर प्रकट हो रही थी और उस ओर देखकर मैं यह सोच रहा था कि सूर्य की किरणों के पृथ्वी पर फैलते ही सब ओर दूसरे के धन को हड़प लेने का कारोबार शुरू हो जायगा। पक्षी उठेंगे और वृक्षों के धन फलों पर टूट पड़ेंगे। मधुमक्खियाँ जागेंगी और फूलों के धन मधु पर धावा बोल देंगी। पशु घास के शरीर पर दाँत मारेंगे और हिंसक पशुओं का तो कहना ही क्या ! लाला जी दूकान को बुहार कर गाहक की

जेब में पड़े पैसों की ओर नज़र लगायेंगे। मज़दूर मालिक की तिजोरी में पड़े पैसे को हथियाने के लिये उसकी मर्ज़ी के मुताबिक मेहनत करने को तैयार होगा और मालिक मज़दूर के शरीर की शक्ति को चूस कर रुपये की शक्ल मे बटोरने के लिये उसे मज़दूरी का प्रलोभन दे फँसाने की कोशिश करेगा। दुनिया में ऐसा कौन है जो केवल शौक़ से या दूसरों का भला करने के लिए ही सुबह उठकर अपनी हड्डियाँ घिसने को तैयार होगा? कोई नहीं, कोई नहीं! सब डाकू हैं, सब चोर हैं, सब ठग हैं। यह दुनिया स्पर्धा, लूट, चोरी और अन्याय से भरी है। क्या यह रहने लायक जगह है? भगवान् बुद्ध ने संसार में यह अन्याय देखा और उन्हें वैराग्य हो गया, उन्होंने इस अन्याय को दूर करने के लिये अपना जीवन बलिदान कर दिया; परन्तु क्या संसार के इस अन्याय में रत्ती भर भी कमी हुई। वह तो वैसे ही चला जा रहा है। इसलिये मैं वैराग्य लेना व्यर्थ ही समझता हूँ। परन्तु अन्याय—अर्थात् दूसरे के धन को कोई छीन ले, यह कैसे गवारा किया जा सकता है।

* * *

नीम की हरी-हरी टहनी को देखकर दातुन तोड़ लेने के लिये मन में लालच उठा और दातून तोड़ ली। तब ख़याल आया कि यह भी तो पाप था। वृक्ष के शरीर का अंग तोड़कर उसे दाँतों में कुचलना! डा० बोस का कहना है कि वृक्षों में भी प्राण हैं संज्ञा है, फिर क्या यह पाप नहीं? परन्तु शास्त्रों का मत यह है कि सम्पूर्ण संसार की सृष्टि मनुष्य के उपयोग के लिये है इस सिद्धान्त को माने बिना मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं। इस लिये मैं भी इसे मानता हूँ और जो इसे नहीं मानता उसे सभी विद्वानों की तरह मूर्ख मानता हूँ।

वृक्ष, शाक, पात, फल इन सब में साइंस ने जीव सिद्ध कर दिया तो क्या? हम यह जानते हैं कि इनकी रचना और जीवन-शक्ति इतनी कम है कि वे हमारे उपयोग के सिवा और किसी काम के नहीं।......ठीक है, हमारे मुहल्ले के लालाजी का भी यही ख़याल है कि शहर के मजदूर और गाँव के किसान इतने निचले दर्जे के आदमी होते हैं कि जमीन्दारों और दूसरे बड़े आदमियों के उपयोग में आने के सिवा संसार में उनके अस्तित्व की कोई सार्थकता नहीं;

यह लोग पशुओं और वनस्पति के समान ही ऊँचे दर्जे के मनुष्यों के उपयोग के लिये ही संसार में पैदा हुए हैं। लालाजी ने सफलता का पाठ अनुभव की पाठ पुस्तक से पढ़ा है। वे धोखा नहीं खा सकते।

इतिहास भी तो यही बताता है। एक बहुत ऊँचे दर्जे का आदमी था राम और दूसरा रावण। उनके उपयोग के लिये लाखों आदमी ख़तम हो गये। ऐसे ही कौरव-पांडव थे, सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, पृथ्वीराज- महमूद, बाबर, अकबर, नैपोलियन—सब इसी तरह के ऊँचे दर्जे के आदमी थे, जिनके उपयोग के लिये हमारे तुम्हारे जैसे साधारण आदमी काम आये। हिटलर, मुसोलिनी और चेम्बरलेन भी उसी दर्जे के आदमी हैं। उनसे नीचे दर्जे के आदमी हैं हमारे लालाजी, हमारी मिल के साहब और दूसरे बड़े कहलाने वाले आदमी ज़मींदार या ताल्लुकेदार। इसके बाद हमारी गिनती है। हम त्रिशंकु की श्रेणी के आदमी हैं। बड़े आदमी हमें अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं और छोटी श्रेणी के आदमियों को हम अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं। छोटी श्रेणी के आदमी गाय, बैल, घोड़े, गदहे को अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं और यह जानवर क्या यही अन्तिम चीज़ है? नहीं, यह वनस्पति-घास, पत्ते को अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं। यह वनस्पति वायु और मिट्टी में शामिल अणुओं, परमाणुओं को अपने उपयोग की चीज़ समझते होंगे और उसके आगे मुझे कुछ मालूम नहीं। ऊपर की ओर परमात्मा से परे मेरी कल्पना नहीं पहुँचती और नीचे की ओर वायु और मिट्टी के अणुओं और परमाणुओं से परे हमारी साधारण साइंस नहीं पहुँचती। ऊपर से नीचे तक जहाँ भी देखता हूँ शक्ति का अधिकार अपने से कम शक्तिशाली को हमें अपने से कम ताक़त के प्राणी या चीज़ को हमारे उपयोग की चीज़ समझने का अधिकार दे देता है।

* * *

प्रभात की लाली और शहर के बाहर के एकान्त में बेमतलब ख़याल आ जाने से समय का ध्यान नहीं रहता। अचानक ध्यान आया पड़ोस में किसी के घर में पुत्र जन्म हुआ है, उसके यहाँ बधाई देने जाना है।

पुत्र-जन्म पर बधाई दी जाती है और पुत्र प्राप्त करने वाले जलसा करते हैं, कितनी बेवकूफ़ी है दुनिया में ?

अगर मैं अपना यह ख़याल सब को सुनाऊँ तो लोग उलटे मुझे ही बेवकूफ़ बनाने लगेंगे। परन्तु मैं यह सोचता हूँ कि इस दुनिया में जो कुछ भी है जितने पदार्थ या सम्पत्ति है, उस के तो मालिक मौजूद है फिर यह जो नए पैदा होने वाले छलांगें मारते चले आते हैं, यह क्या करेंगे ? इनके पैदा होने के समय भगवान खेती के लायक ज़मीन और दूसरे उत्पत्ति के साधन उनके साथ एक बण्डल में बाँधकर क्यों नहीं भेज देते ? यह लोग अगर मौजूदा मनुष्य-संख्या की मिल्कियत में छीना-झपटी नहीं करेंगे तो गुज़ारा कहाँ से करेंगे ?

यह मैं मानता हूँ कि दुनिया में अगर आदमी पैदा होते हैं तो मरते भी हैं। परन्तु मनुष्य-समाज के दुर्भाग्य से जितने मर कर जगह खाली कर के जाते हैं उससे कहीं अधिक बढ़े चले आते हैं तभी तो संसार की मनुष्य संख्या बढ़ती चली जाती है, और किसी दूसरे के धन को छीनने का सवाल सामने आये बिना नहीं रह सकता।

पैदा होते समय कोई साथ तमस्सुख या चेक लेकर नहीं आता। बाप अपनी कमाई से ही पुत्र को धनवान बना कर ख़ुद चला जाता है। पुत्र बाप की मिल्कीयत का मालिक बन जाता है। यह न्याय सीधा है, इस न्याय से हम इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि अमीर के घर में पैदा हुए बच्चों को मालिक और गुलाम के घर में पैदा होने वाले बच्चों को गुलाम बनना चाहिये और पैदा हो जाने के बाद की हालत में किसी क़िस्म की रद्दोबदल हो जाना अन्याय है क्योंकि बिना किसी का धन लिये कोई अमीर हो नहीं सकता।

ख़ैर, भगवान की इच्छा से जो सम्पन्न घर में पैदा हो गये उन्हें अमीर बने रहने का हक़ है, इस न्याय-संगत बात को मानकर भी एक शंका मन में पैदा हुए बिना नहीं रहती और वह यह कि किसी का बाप क्योंकर अमीर हो जाता है।

कोई एक वंश सृष्टि के आदि से अब तक मालिक नहीं रहा। राजा राम-
[illegible], सिकन्दर के ख़ानदान में वारिस होकर मालिक बनने वाले का पता

ढूंढने पर भी कहीं नहीं लगता और जिन खानदानों के नाम इतिहास में मिल्कियत के नाते कहीं दर्ज नहीं वे अब अन्न-दाता और छत्र-पति का खिताब लिये बैठे हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि भगवान ने कर्मों के फल से सृष्टि के आदि में ही मालिक और नौकर का दर्जा अलग अलग कर दिया हो। हम उन्हें यहीं बनता-बिगड़ता देखते हैं। उनका यह बनना-बिगड़ना भी एक अधिकार और एक क़ायदे से होता है और वह अधिकार या क़ायदा है शक्ति, ताक़त, बल और उसे भले मानसों के समाज में न्याय का नाम दिया जाता है। इसके विपरीत कमज़ोरी, निर्बलता और असहाय होना अपराध है!

बात कुछ अच्छी नहीं मालूम देती, पर है ठीक! अबीसीनिया के देश पर मुसोलिनी चढ़ दौड़ा! सभ्य संसार ने निन्दा और विरोध की आवाज़ उठाई परन्तु इन निन्दा और विरोध की आवाज़ों में इतनी ताक़त न थी कि अबीसीनिया को मुसोलिनी की तोपों की मार से बचा लेते। अबीसीनिया मुसोलिनी की सम्पत्ति बन गया। कुछ दिन संसार के बड़े-बड़े राष्ट्रों ने इस अन्यायपूर्ण मिल्कियत को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और यह एक बड़े भारी अन्याय के रूप में हमारे सामने खड़ा रहा, परन्तु इटली की बढ़ती हुई शक्ति ने इसे शनैः शनैः न्याय बना दिया और अगर अब अबीसीनिया के निवासी विद्रोह कर स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहें तो वह बाक़ायदा अपराध होगा। संसार इसे अपराध कहेगा। और यह दर असल अपराध होगा क्योंकि यह शक्तिशाली मुसोलिनी की इच्छा और हित के विरुद्ध कार्रवाई होगी।

तोप, तलवार, बन्दूक़ और हवाई जहाज़ न्याय के हथियार हैं और वे ही न्याय का रूप हैं इसीलिये हमरे बुज़ुर्ग हमेशा हरबा-हथियार से लैस रहते थे। लेकिन सब लोगों का यों बन्दूक तलवार लिये फिरना ठीक नहीं, इससे गड़बड़ होती है, हरदम आशंका बनी रहती है। इससे बड़ी दूसरी एक और ताक़त है और वह ताक़त अलादीन के चिराग़ से बढ़ कर है, वह खुद अल्लाह का चिराग़ है—रुपया! इस रुपये से तोप, तलवार और बमबाज़ हवाई जहाज़ आपकी खिदमत में हाज़िर रहेंगे, आप मसनद पर बैठकर हुक्का गटकिये, आपके हुक्म से जिस पर और जहाँ आप चाहेंगे खून की नदियाँ और हड्डियों

के पहाड़ खड़े हो जायँगे। रुपया ही वह डोरी है जो तोप, बन्दूक और तलवार को चलाता है।

शक्ति मनुष्य के हाथ पैर में है या धातु के टुकड़ों में ? यह बात समझने के लिये ज्ञान-दृष्टि की ज़रूरत है। आप यह बताइये धन रुपये की थैली में है या हुण्डी, चेक के काग़ज़ में ? धन तो असल में है, मनुष्य की मेहनत में ही परन्तु रुपया उस मेहनत का चेक या हुण्डी है। मनुष्य के परिश्रम को या शक्ति को रुपये के रूप में जो जितनी अधिक मात्रा में संचय कर लेता है वह उतना ही शक्तिशाली है, उतना ही अधिक न्याय का स्वामी है। ऐसे शक्तिशालियों की समाज के हित के अनुकूल जो बात हो वह न्याय है।

यह शक्तिशाली लोग जो तरीक़ा दूसरे के धन को हथियाने का न्यायपूर्ण स्वीकार कर लें वह न्याय और जिसे वह अन्याय कह दें वह अन्याय। उदाहरण के तौर पर किसी के घर में घुस कर उसकी कमाई उठा लाना चोरी और पाप है परन्तु किसी व्यक्ति से दिन भर मेहनत कराकर उससे २।) रु० का काम कराकर उसे १) रु० देकर टाल देना चोरी नहीं, अन्याय नहीं। किसान की, मज़दूर की पैदावार को घर में बटोर कर किसान और मज़दूर से ही उसके दाम माँगना न्याय है और जब किसान मज़दूर कहे कि मेरी मेहनत के फल को तुम सब का सब मत हड़प जाओ, कुछ तो मुझे भी दो, तो वह शांति भंग करना है।

यह न्याय कैसा है, मुझे तो यह लाठी का ही न्याय जान पड़ता है। मेरा विश्वास है, सेठ जी की कृपा से थाली भर खीर खाकर ही परम तपस्वी ऋषियों ने यह उपदेश दिया था—"मागृधः कस्य स्विद्धनम्"—चोरी मत कर! और इसी न्याय की स्थापना राजा और उसकी सरकार करते चले आये हैं।

राजा ने और राजा की बिरादरी के अमीर आदमियों ने ऋषि और धर्मात्मा विद्वान लोगों से कहा—हमारे पास जो धन और शक्ति है वह हमारे ही हाथों में रहनी चाहिए, इसे हमसे छीनने का प्रयत्न कोई न करे। ऋषियों ने कहा—अन्नदाता यही तो न्याय है। इस न्याय को क़ायम करने के लिये एक बड़ी लाठी सेना की शक्ल में और पुलिस की शक्ल में तैयार की गई र यह लाठी न्यायालय और सरकार की मुट्ठी में थमा दी गयी।

सरकार और न्यायालय अमीरों, ज़मींदारों और पूँजीपतियों की मुट्ठी है; यह बात कहना क्या उचित है ! बुज़ुर्ग और विद्वान सदा से हमें सिखाते समझाते आये हैं कि न्याय और सरकार के सामने ग़रीब और अमीर सब एक हैं; बल्कि ताक़तवर आदमियों से ग़रीब की रक्षा करने के लिये ही राजा और सरकार की स्थापना हुई। मनुष्य हिंसक पशुओं की तरह छीना-झपटी और लूट-खसोट न करे, इसलिये सरकार की स्थापना हुई। यह बात तो समझ में आती है परन्तु सवाल यह है कि छीना झपटी और लूट-खसोट से डर किसे है !—क्या ग़रीब को ?

आम तौर पर कहा जायगा ग़रीब को ! पर मैं यह सोचता हूँ कि ग़रीब से कोई क्या छीने-झपटेगा ? और निर्बल या कमज़ोर कोई व्यवस्था चलाना चाहेगा तो किस बिरते और ताक़त पर उसे चला पायगा ? इसलिये मुझे तो यही समझ में आता है कि ग़रीब को शासन सरकार और व्यवस्था क़ायम करने की न तो ज़रूरत थी और न उसके पास उसके साधन ही थे। अगर छीना-झपटी का किसी को डर था तो उसे, जिसके पास इतना धन एकत्र हो गया था कि उसे लुटेरों का डर हो गया था और उसके हाथ में सरकार और व्यवस्था क़ायम करने का साधन भी मौजूद था ! ऐसा आदमी या ऐसी श्रेणी कौन थी ? वह चाहे जो रही हो पर वह गरीबों की साधन-हीनों की श्रेणी नहीं थी इस बात को मैं दावे से कह सकता हूँ।

इतिहास के पन्ने पलटिये—राजा और उसके सामन्त कभी ग़रीब नहीं रहे। वे सदा सोने-चाँदी के जेवर और रेशम के कपड़े पहन कर सिंहासन और रथ पर बैठते रहे हैं और उन्हें सदा इस बात का डर रहा है कि क्षुब्ध प्रजा हल्ला कर सब कुछ छीन न ले जाय। देखिये इतिहास बताता है कि पुराने ज़माने में स्वामी लोग दासों को नियंत्रण में रखते थे उस समय शासन और व्यवस्था की ज़रूरत दास को नहीं बल्कि स्वामी को ही रही होगी। फिर सामन्तों के समय में शासन और सरकार की व्यवस्था सामन्त सरदारों की इच्छा द्वारा सामन्त सरदारों के हित की रक्षा करने के लिये ही रही और ... दिन भी जिनके हाथ में पूँजी है और जिनके हाथ में ज़मींदारी है, ... और व्यवस्था उन्हीं की इच्छा अनुसार उन्हीं के हित के ...

शासन और सरकार है क्या ? वह किस लिए है ?–शासन और व्यवस्था है समाज की रक्षा के लिये। समाज की रक्षा का अर्थ है समाज जिस ढंग ढांचे से चल रहा है, उसी ढंग ढाँचे पर चलाया जाय। उसके परिवर्तन का उपद्रव खड़ा न किया जाय ! और समाज क्या है ? स्थूल रूप में समाज है—हमारे सम्मिलित जीवन का क्रम ! हमारे सम्मिलित जीवन के क्रम में जीवन के आधार, जीवन के लिये उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति और बँटवारे का नियंत्रण ही सबसे बड़ी बात है बाकी सब बातें इस मूल धुरी के चारों ओर घूमती रहती हैं और मूल धुरी है समाज में एक ऐसी श्रेणी का मौजूद होना जो सम्पत्ति के रूप में उत्पत्ति के सब साधनों को समेटे हुए है और दूसरी उस श्रेणी का होना जो सम्पत्ति या उत्पत्ति के साधनों के अभाव में सम्पत्तिशाली या पूँजीपति श्रेणी के हाथ में पैदावार के साधन के रूप में काम करती है। जैसे घोड़ा एक जीव है और इक्केवाला भी एक जीव है और इक्का है उत्पत्ति का साधन। इक्केवाला घोड़े को इक्के में जोत कमाई करता है। घोड़े को चारा-दाना खिला बाकी पैसा जेब में रखता है। इसी प्रकार पूँजीपति श्रेणी, उत्पत्ति के साधन और मज़दूर का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में जो धन है वह जायगा इक्केवाले, यानी पूँजीपति के पास ! और उस धन की रक्षा के लिये पूँजीपति को एक सरकार खड़ी करनी पड़ेगी ताकि न्याय और शांति की रक्षा हो। और इस न्याय और शाँति की रक्षा का अर्थ होगा—कोई किसी का धन न ले।

समाज में शांति और न्याय क़ायम रखने का सूत्र और नियम है—'कोई किसी का धन न ले' और हमारे समाज की व्यवस्था का उद्देश्य और आधार है, एक श्रेणी दूसरी का धन लेकर अपने पास रखकर शक्तिशाली बने और फिर उस धन की रक्षा के लिये धन-हीन श्रेणी का दमन करने के लिये सरकार क़ायम करे।

हमारे समाज की शांति और व्यवस्था की रक्षा का यह सब सरंजाम मुझे केवल एक खेल दिखाई देता है और यह खेल है, चोर-चोर का खेल। 'इस खेल में कौन चोर' और कौन शाह' यह मैं कैसे बता सकता हूँ ? लेकिन मैं भी कहता हूँ—चोरी मत करो !